पू० स्व० [redacted] शा त मूर्ति श्रीमती [redacted] श्रीजी महाराज साहबा के स्मरणार्थ पानस

* ॐ नम *

श्री मत्सुख सागर सद्गुरु ...

सिन्दूर प्रकर

उर्फ

सूक्ति मुक्तावली

सस्कृत गद्य पद्य हिन्दी युक्त सग्रह

खरतर गच्छ शिरोमणी पू० स्व० गणाधीश विद्वद्वर्य श्रीमान् सुखसागरजी म०सा० के वर्तमान पट्टधर प० प्र० शान्त० गणीवर हेमेन्द्र सागरजी म० सा की आज्ञानुयायिनी पू० गु० प्र० स्व० श्री लक्ष्मीश्रीजी म० सा० की स्व० शि० वि० शिव श्रीजी म० सा० की शि० स्व० वि० विमल श्री म० सा० की आज्ञा० वर्तमान प्र० शा०प्र० वि० श्री प्रमोद श्रीजी महाराज साहेब की विदुषी शिष्या श्री चम्पक श्रीजी म० के सदुप देशात् ।

प्रकाशिका और द्रव्य सहायिका

भक्त मण्डल

विक्रम सं० २०२३	वीर स० २४९३ मूल्य—पठन पाठन	प्रथमावृत्ति १०००

दानदाताओं की नामावली

निम्नांकित महानुभावों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में सहायता दी है। अत: वे धन्यवाद के पात्र हैं—

१. श्री मोहनलालजी बालिया ३५०)
अहमदाबाद

२. श्री मूलचन्दजी बोहरा १००)
ब्यावर, बैंगलोर

३. श्री चंपालालजी अलीजार, ब्यावर ३०)

—सम्पादिका

सम्पादिका

विदुषी प्रवरा

" श्री चम्पक श्रीजी महाराज साहब "



जन्म वि० सं० १९४६ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया।

दीक्षा वि० सं० १९८१ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया।

❁ प्राक्-कथन ❁



सूक्त मुक्तावली एवं सिंदूर प्रकर की दो तीन विभिन्न प्रतियों का मैंने अध्ययन किया और मुझे लगा कि इस प्रकर में जो महत्व पूर्ण भाव प्रथित हैं उन्हें अधिक से अधिक धर्मानुरागी गण अध्ययन करें तो मानव समाज में जो वर्तमान में सकीर्ण भाव भरे पड़े हैं उनका निराकरण हो सके। इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने इस ग्रन्थ का सम्पादन करना आवश्यक समझा।

श्री प० बनारसीदासजी ने सस्कृत पद्यावली को हिन्दी पद्यावली में अनुदित कर सुवर्ण में सुगध का कार्य किया है। अत मैंने उनकी हिन्दी पद्यावली को भी इस ग्रथ में स्थान दिया है। आशा है कि भविक जन इससे अधिक लाभ उठायेंगे।

द्वितीय भाग मे लोक हिताय कतिपय सूक्तिया एव श्रद्धेय उपाध्याय श्री क्षमाकल्याणकजी महाराज और महाकवि पुङ्गव श्री शोभन मुनिजी प्रणीत सस्कृत चैत्यवन्दन स्तुति का समावेश भी किया है।

—सम्पादिका



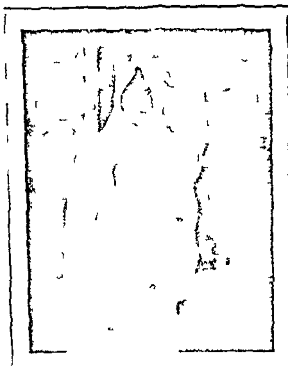
जिनकी पुनीत स्मृति

में

यह ग्रन्थ उपस्थित किया जा रहा है वे हैं—

परम पूज्या साध्वीजी

श्री पार्श्व श्री जी महाराज साहब



जन्म वि० सं० १९६३ चैत्र शुक्ला चतुर्थी

दीक्षा वि० सं० १९९८ वैशाख कृष्णा सप्तमी

स्वर्ग गमन वि० सं० २ [illegible]३ चैत्र शुक्ला प्रथमा



श्रीसोमप्रभाचार्यविरचित

सूक्तमुक्तावली

भाषापद्यानुवाद और अर्थसहित ।



धर्माधिकार ।



शार्दूलविक्रीडित ।

सिन्दूरप्रकरस्तप करिशिरःक्रोडे कषायाटवी-
दावार्चिर्निचयः प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः ।
मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरस. श्रेयस्तरोः पल्लव
प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभोः पातु व' ॥१॥

छप्पय ।

शोभित तपगजराज, सीससिंदुर पूरछवि ।
बोधदिवस आरंभ, करण कारण उदोत रवि ॥
मगलतरुपल्लव, कषायकांतारहुतासन ।
बहुगुणरत्ननिधान, मुक्तिकमलाकमलासन ॥
इहिविधि अनेक उपमासहित, अरुण चरण संतापहर ।
जिनराय पार्श्व नखज्योतिभर, नमत 'बनारसि' जोर कर ॥१॥

अन्वयार्थौ—(तप करिशिर क्रोडे) तपरूपी हाथी के मस्तक के मध्यभाग में (सिन्दूरप्रकर) सिन्दूर के पुञ्ज के समान

(कषायाटवीदावार्चिर्निचय.) कषायरूपी वनको जलाने वाले दावानल के समान, (प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः) ज्ञानरूपी दिवस के प्रारम्भ के सूर्योदय के समान, (मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः) मुक्तिरूपी स्त्री के कुचकुम्भों पर लगे हुए केशर के रस के समान और (श्रेयस्तरो.) कल्याण-रूपी वृक्ष की (पल्लवप्रोल्लासः) निकलती हुई नई कोंपलों के समान (पार्श्वप्रभो.) श्रीपार्श्वनाथ भगवान के (क्रमयोः) दोनों चरणों के (नखद्युतिभरः) नखों की कान्ति का समूह, (वः) तुम्हारी (पातु) रक्षा करो।

भावार्थ—पार्श्वनाथ भगवान के चरणों के लाल और चमकते हुए नख सम्पूर्ण भव्यजीवों का कल्याण करें।

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः
सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत्।
किं वाभ्यर्थनयानया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं
कर्त्तारः प्रथनं न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किम् ॥२॥

दोधकान्तवेसरीछन्द।

जैसे कमल सरोवर वासै। परिमल तासु पवन परकासै।
त्यों कवि भाषहि अक्षर जोर। संत सुजस प्रगटहि चहुंओर॥
जो गुणवन्त रसाल कवि, तौ जग महिमा होय।
जो कवि अक्षर गुणरहित, तौ आदरै न कोय॥ २॥

अन्वयार्थौ—(मम) मेरे (वाचां) वचनों के (विचारोद्यताः) विचार करने में उद्यत हुए (सन्तः) सज्जन पुरुष (प्रसन्नमनसः) प्रसन्न चित्त (सन्तु) होओ। (यत्) क्योंकि (कमलानि) कमलों को (सूते) उत्पन्न तो करता है (अम्भः) जल और, (तत्परिमल) उनकी

सुगन्धिको (वित नि) चारों ओर फैलाता है (वातः) वायु। (वा) अथवा (अनया) इस (अभ्यर्थनया) प्रार्थना से (किम्) क्या ? अर्थात् 'इस ग्रन्थ को देखने वाले सज्जन प्रसन्न होवें मेरी इस प्रार्थना से कुछ लाम नहीं। क्योंकि (यदि) यदि (आसाम्) इस वाणी में (गुण) गुण (अस्ति) हैं, (तत) तो (ते) वे सज्जन पुरुष (प्रथने) उन गुणों के प्रसिद्ध करने में (स्वय) अपने आप (कर्त्तारं) कर्त्ता हो जावेंगे। अर्थात् वे स्वयं उनको प्रसिद्ध करेंगे। (अथ) और यदि (न चेत्) मेरे इन वचनों में अर्थात् इस ग्रन्थ में गुण नहीं हैं तो (तेन) उस (यश प्रत्य र्थिना) गुणों के अभाव रूप अपयश से (किम्) क्या लाम है ?

भावार्थ—जिस तरह कमलों को उत्पन्न तो करता है जल, परन्तु उनके सौरभ का सब ओर फैलाता है वायु। इसी तरह यद्यपि इस ग्रन्थ को बनाता हूँ मैं परन्तु इसका प्रचार करेंगे सज्जन पुरुष ही। इसलिये वे मुझ पर प्रसन्न होवें। परन्तु एक तरह से इसके लिये उनसे प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं दीखती है। क्योंकि यदि इस ग्रन्थ में गुण होंगे, तो वे स्वय उन्हें प्रकाशित करेंगे और यदि नहीं हैं—दोष ही दोष हैं, तो इसके प्रचार करने से जो अपयश होगा, उसमें क्या लाम ?

इन्द्रवज्रा।

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विनायद्भवतोऽर्थकामौ॥

वाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसि', पाय अजान अकारथ खोवै ॥

अन्वयार्थौ-(यः) जो (प्रमत्तः) प्रमादी वा मूर्ख पुरुष (दुष्प्रापम्) कठिनता से प्राप्त होने वाले (मर्त्यजन्म) मनुष्यजन्मको (मुधा) व्यर्थ ही (गमयति) खोता है (सः) वह पुरुष मानों (स्वर्णस्थाले) सुवर्ण के थाल में (रजः) धूल (क्षिपति) रखता है, (पीयूषेण) अमृतसे (पादशौचम्) पाद प्रक्षालन (विधत्ते) करता है—अर्थात् पैर धोता है, (प्रवरकरिणम्) श्रेष्ठ हाथीपर (एधभारम्) ईंधन का बोझा (वाहयति) ढोता है और (वायसोड्डायनार्थम्) कौवे के उड़ाने के लिए (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणि रत्न को (करात्) हाथ से (विकिरति) फेंकता है।

भावार्थ—मनुष्यजन्मको व्यर्थ खोनेवाला मनुष्य उक्त कार्य करनेवालों के समान मूर्ख है। इसलिये उसको धर्मसेवन करके सफल करना चाहिये।



शार्दूलविक्रीडित।

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया ॥६॥

कवित्त (३१ मात्रा)

ज्यों जरमूर उखारि कल्पतरु, बोवत मूढ [1]कनकको खेत।
ज्यों गजराज बेच गिरिवर सम, कूर कुबुद्धि मोल [2]खर लेत ॥

---

१ धतूरेका। २ गर्दभ (गधा)।

जैसे छाड़ि रतन चिन्तामणि, मूरख काचखंड मन देत।
तैसे धर्म विसार 'बनारसि', धावत अधम विषयसुखहेत ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो (अधमा) नीच पुरुष (लब्धम्) प्राप्त हुए (धर्मम्) धर्म को (परिहृत्य) छोड़कर (भोगाशया) भोगोपभोगों के सेवन करने की आशा करने से (धावन्ति) दौड़ते हैं—भटकते हैं, (ते) वे (कल्पद्रुमम्) कल्पवृक्ष को (प्रोन्मूल्य) उखाड़ कर (भवने) अपने घर में (धत्तूरतरूम्) धतूर के वृक्ष को (वपन्ति) बोते हैं, (ते) वे (जडा) मूर्ख (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणि रत्न को (अपास्य) छोड़कर (काचशकलम) कांच के टुकड़े को (स्वीकुर्वते) स्वीकार करते हैं। और (ते) वे (गिरीन्द्रसदृशम्) सुमेरु पर्वत के समान (द्विरदम्) हाथी को (विक्रीय) बेचकर (रासभम्) गदहे को (क्रीणन्ति) खरीदते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष किसी तीव्र शुभ कर्म के उदय और अशुभ कर्म के क्षयोपशमादिक से प्राप्त हुए जैन धर्म को छोड़ देते हैं अथवा उसके सेवन करने में शिथिलता करते हैं, उन्हें ऊपर कहे हुए काम करने वाले मूर्खों के समान समझना चाहिये।

शिखरिणी।

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं
न धर्मं यः कुर्याद्विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन्पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ॥ ७ ॥

सोरठा ।

ज्यों जल बूडत कोय, वाहन तज पाहन गहै ।
त्यों नर मूरख होय, धर्म छांडि सेवत विषय ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (विषयसुखतृष्णातरलितः) विषयों के सेवन करने से प्राप्त हुए सुख की तृष्णा में मग्न हुआ जीव (अपारे) (ससारे) इस अपार ससार में (कथ अपि) किसी तरह से (नृभवम्) मनुष्य जन्म को (समासाद्य) पाकर (धर्मम) धर्म सेवन (न) नहीं (कुर्यात) करता है, (सः) वह (मूर्खाणाम) मूर्खों में (मुख्यः) मुख्य अर्थात् अतिशय मूर्ख (पारावारे) समुद्र में (ब्रुडन्) डूबते समय (प्रवरम्) श्रेष्ठ (प्रवहणम्) जहाज को (अपहाय) छोडकर (उपलम्) पाषाण के (उपलब्धुम) पकड़ने के लिये (प्रयतते) प्रयत्न करता है ।

भावार्थ—जो धर्म को छोडकर विषय सेवन में लीन होता है, वह उस मूर्ख के समान है, जो समुद्र में डूबता हुआ भी जहाज को छोड़कर पाषाण पकडने का प्रयत्न करता है ।

द्वार गाथा ।

शार्दूलविक्रीडित ।

भक्तिं तीर्थंकरे गुरौ जिनमते संघे च हिंसानृत-
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहव्युपरमं क्रोधाद्यरीणां जयम् ।
सौजन्यं गुणिसङ्गमिन्द्रियदमं दानं तपोभावनां
वैराग्यं च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तुं मनः ॥ ८ ॥

छप्पय ।

जिन पूजहु गुरु नमहु, जैनमतवैन बखानहु ।
सघभक्ति आदरहु, जीवहिंसा न विधानहु ॥

झूठ अदत्त कुशील, त्यागि परिग्रह परमानहु।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु॥
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु जो जगमें जीवनमुकत॥८॥

अन्वयार्थौ हे आत्मन् (यदि) यदि (मन) तेरा मन (निर्वृतिपदे) मोक्ष में (गन्तु अस्ति) जाना चाहता है, तो तू (तीर्थकरे) तीर्थकरमें (गुरौ) गुरुमें, (जिनमते) जिनमतमें और (सघे) मुनि अर्जिका श्रावक और श्राविका इनके समूहरूप संघमें, (भक्ति कुरुष्व) भक्ति कर (च) और (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहव्युपरमम्) हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म और परिग्रहका त्याग, (क्रोधाद्यरीणाम्) क्रोध मान माया लोभरूप शत्रुओं का (जयम्) विजय, (सौजन्यम्) सुजनता, (गुणिसङ्गम्) गुणी पुरुषों की सङ्गति, (इन्द्रियदमम्) इन्द्रियों का दमन, (दानम्) दान (तपोभावना) तपो भावना और (वैराग्यम्) वैराग्य अर्थात् संसारदेह भोग से उदासीनता (कुरुष्व) कर।

भावार्थ—यदि मोक्ष जाने की इच्छा हो, तो ऊपर लिखे कार्य करना चाहिये।

पूजाधिकार।

पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता॥ ६॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

लोपै दुरित हरै दुख संकट, [1]आपै रोगरहित नित देह ।
पुण्यभँडार भरै जस प्रगटे, मुकति पंथ सों करै सनेह ॥
रचै सुहाग देय शोभा जग, परभव पँहुचावत सुरगेह ।
कुगतिबंध दलमलहि बनारसि, वीतरागपूजाफल एह ॥६॥

अन्वयार्थौ—(अर्हताम्) श्रीवीतराग सर्वज्ञदेवकी (निर्मिता) की हुई (अर्चा) पूजा (पापम्) पापका (लुम्पति) लोप कर देती है, (दुर्गतिम्) नरकादिक दुर्गतियों को (दलयति) नष्ट कर देती है, (आपदम्) आपदाओं का (व्यापादयति) दलन करती है, (पुण्यम्) पुण्य को (संचिनुते) संचित करती है, (श्रियम्) लक्ष्मी को (वितनुते) बढ़ाती है, (नीरोगताम्) नीरोगता को (पुष्णाति) पुष्ट करती है, (सौभाग्यम्) सौभाग्य को (विदधाति) अटल रखती है, (प्रीतिम्) प्रीति को (पल्लवयति) पल्लवित करती है, (यशः) कीर्त्ति को (प्रसूते) उत्पन्न करती है, (स्वर्गम्) स्वर्ग को (यच्छति) देती है (च) और (निर्वृतिम्) मोक्ष को (रचयति) रचती है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर देती है ।

भावार्थ—अरहंतदेवकी पूजा करनेसे अशुभ कर्मों का उपशम होता है और शुभ कर्मों का उदय तथा वृद्धि होती है ।

स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि ।

---

१ देवै ।

संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः ॥ १० ॥

देवलोक ताको घर आँगन, राजरिद्ध सेवैं तसु पाय।
ताके तन सौभाग्यआदिगुन, केलि विलास करैं नित आय॥
सो नर तुरत तिरै भवसागर, निर्मल होय मोक्षपद पाय।
द्रव्य-भाव-विधिसहित बनारसि, जो जिनवर पूजे मन लाय १०॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (जनः) मनुष्य (जिनपते) जिनेन्द्र देवकी (श्रद्धाभरभाजनम्) अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक (पूजाम्) पूजा (विधत्ते) करता है, (तस्य) उसको (स्वर्ग) स्वर्ग (गृहाङ्गणम्) घर का आंगन है और (साम्राज्यलक्ष्मी) राज्य सम्पदा (शुभा) अच्छी (सहचरी) सखी है, (वपुर्वेश्मनि) उसके शरीर रूपी घर में (सौभाग्यादिगुणावलि) सौभाग्य आदिक गुणों के समूह (स्वैरम्) स्वतन्त्रता पूर्वक (विलसति) विलास करते हैं, (संसारः) परिभ्रमणरूप संसार (सुतर) उसके लिए सुतर है-अर्थात् वह उसके पार सहज ही हो सकता है। और (शिवम्) मुक्ति तो (अञ्जसा) शीघ्र ही (करतलक्रोडे) उसकी हथेली पर आकर (लुठति) लोटती है।

भावार्थ--जिनेन्द्रदेवकी पूजा करने वाले को स्वर्गादिक सम्पदाएं सहज ही मिल सकती हैं।

शिखरिणी।

कदाचिन्नातङ्कः कुपित इव पश्यत्यभिमुखं
विदूरे दारिद्य चकितमिव नश्यत्यनुदिनम्।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यस्त स्तौति परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते ।
यस्त ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ॥१२॥

जो जिनेंद्र पूजै फूलनसों सुरनैनन पूजा तिस होय।
बंदै भावसहित जो जिनवर, वंदनीक त्रिभुवन में सोय ॥
जो जिन सुजस करै जन ताकी, महिमा इन्द्र करैं सुरलोय।
जो जिन ध्यान करत बानारसि, ध्यावैं मुनि ताके गुण जोय ॥१२॥

अन्वयार्थो—(य) जो (जिनम्) जिनेन्द्रदेव को (पुष्पै) पुष्पों से (अर्चति) पूजता है, (स), वह पुरुष (स्मितसुरस्त्री लोचनै) मुस्कुराती हुई देवांगनाओं के नेत्रोंद्वारा (अर्च्यते) पूजा जाता है, (य) जो (तम्) उनकी (एकश) एकबार (वन्दते) वन्दना करता है, (स) वह पुरुष (त्रिजगता) तीनों लोकों के द्वारा (अहर्निशम्) रात दिन (वन्द्यते) वन्दना किया जाता है, (य) जो पुरुष (तम्) उनकी (स्तौति) स्तुति करता है (स) वह (परत्र) परलोक में (वृत्रदमनस्तोमेन) इन्द्रों के समूहद्वारा अर्थात् सौ इन्द्रोंके द्वारा (स्तूयते) स्तुति किया जाता है और (य) जो (तम्) जिनेन्द्रदेव का (ध्यायति) ध्यान करता है, (स) वह (क्लृप्तकर्मनिधन) समस्त कर्मों से रहित होता हुआ (योगिभि) योगियों द्वारा (ध्यायते) चिन्तवन किया जाता है।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव की पूजा वन्दना ध्यानादिक करने वाला पुरुष इन्द्रादिकों द्वारा पूजा वन्दा और ध्याया जाता है।

गुरु अधिकार।

वंशस्थविलम्।

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः।
स सेवितव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरँस्तारयितुं क्षमः
परम् ॥ १३ ॥

अडिल्ल छन्द।

पापपंथ परिहरहिं, धरहिं शुभपंथ पग।
पर उपगार निमित्त, बखानहिं मोक्षमग ॥
सदा अवांछित चित्त, जु तारन तरन जग।
ऐसे गुरु को सेवत, भागहिं करम ठग ॥१३॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (अवद्यमुक्ते) पापरहित (पथि) मार्ग में (प्रवर्त्तते) स्वयं प्रवर्त्तता है (च) और (निस्पृहः'सन्') निस्पृह होकर अर्थात् बिना किसी आशा के (अन्यजनम्) दूसरे मनुष्यों को (प्रवर्त्तयति) प्रवर्त्तन कराता है, इसी प्रकार जो (स्वयं तरन्) संसार रूपी समुद्र से आप तरता हुआ (परम्) दूसरो को (तारयितुम्) तारने के लिये (क्षमः) समर्थ है, (सः) वह (गुरुः) सद्गुरु (स्वहितैषिणा) जो अपना भला चाहते हैं, उनके द्वारा (सेवितव्यः) सेवन करने के योग्य है।

भावार्थ—आत्मकल्याण करनेवाले प्राणियो को ऐसे गुरुका सेवन करना चाहिये कि, जो मोक्षमार्ग में स्वयं चलै और दूसरों को चलावै। तथा संसार रूपी समुद्र से आप तरैं और दूसरो को तारैं।

मालिनी।

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।

अवगमयति कृत्याकृत्य भेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित् ॥१४॥

हरिगीतिका छन्द ।

मिथ्यात-दलन सिद्धांत-साधन, मुकतिमारग जानिये।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये॥
संसार सागर तरनतारन, गुरु जहाज विशेखिये।
जगमाहिं गुरुसम कह बनारसि, और कोउ न देखिये॥ १४॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (कुबोधम्) मिथ्याज्ञान को (विदलयति) दलन करता है, (आगमार्थम्) सिद्धान्त शास्त्रों के अर्थको (बोधयति) प्रकाशित करता है, (सुगतिकुगतिमार्गौ) स्वर्गादिक सुगति और नरकादिक दुर्गति के मार्ग रूप (पुण्यपापे) पुण्य और पापको (व्यनक्ति) प्रकट करता है, और (कृत्याकृत्यभेदम्) कृत्य अकृत्य अर्थात् करने योग्य और न करने योग्य कार्य के भेद को (अवगमयति) बतलाता है (तं) (विना) उसके विना (कश्चित्) और कोई (भवजलनिधिपोतः) संसार रूपी समुद्र से पार उतारने के लिये जहाज (न-अस्ति) नहीं है।

शिखरिणी।

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः
सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्व परिकरः।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥१५॥

मत्तगयन्द ।

मात पिता सुत बन्धु सखीजन, मीत हितू सुख कामिनि पीके ।
सेवक साज मतंगज बाज, महादल राज रथी रथ नीके ॥
दुर्गति जाय दुखी विललाय, परै सिर आय अकेलहि जीके ।
पंथ कुपंथ गुरू समझावत, और सगे सब स्वारथ हीके ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(नरककुहरे) नरकरुपी कुहर में (निमज्जन्तम्) डूबते हुए (जन्तुम्) प्राणी को (धर्माधर्मप्रकटनपरात्) धर्म अधर्म के प्रगट करने में तत्पर ऐसे (गुरोः) गुरु से (परः) भिन्न अर्थात् गुरुको छोड़कर अन्य (पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्व परिकरः) पिता, माता, भाई, प्यारी सहचरी अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, स्वामी, मदोन्मत्त हाथी, योद्धा, रथ, घोड़े, और परिकार आदि (कः अपि) कोई भी (रक्षितुम्) रक्षा करने को (अलम्) समर्थ (न) नहीं हैं ।

भावार्थ—नरकमें पड़ते हुए प्राणीको धर्म और अधर्म का स्वरूप समझा कर गुरु ही रक्षा कर सकते हैं और कोई नहीं ।

शार्दूलविक्रीडित ।

किं ध्यानेन भवत्वशेसविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं
पूर्णं भावनयालमिन्द्रियजयैः पर्याप्तमाप्तागमैः ।
किं त्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनं
सर्वे येन विना विनाथ बलवत्स्वार्थाय नालं गुणाः॥१६॥

वस्तु छन्द ।

ध्यान धारन ध्यान धारन, विषैसुखत्याग ।
करुनारस आदरन, भूमिसैन इन्द्रीनिरोधन ॥

व्रत संजम दान तप, भगति भाव सिद्धांतसाधन।
ये सब काम न आवहीं, ज्यों विन नायक सैन।
शिवसुखहेतु बनारसी, कर प्रतीत गुरुनैन ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—(ध्यानेन) ध्यान करने से (किम् भवति) क्या होता है ? अशेषविषयत्यागै किं भवति) समस्त विषयों के त्याग से क्या होता है—उससे कुछ सिद्धि नहीं, (तपोभि किं कृतम् भवति) तप करने से क्या होता है ? (भावनया किं पूर्णम्) भावनाओं मे क्या पूरा पड़ता है ? और इसी प्रकार (इन्द्रियजये अलम्) इन्द्रियों को जीतने से क्या ? और (आप्तागमै पर्याप्तम्) सर्वज्ञ प्रणीत आगम के अध्ययन से क्या ? अर्थात् केवल इनसे कुछ लाभ नहीं है (किन्तु) किंतु (एक) एक (भवनाशन) संसार के नाश करनेवाली (गुरो शासन) गुरु की आज्ञा को (गुरुप्रीत्या) गाढ भक्ति से (कुरु) पालन करो, (येन विना) जिसके विना (विनाथ बलवत्) विना स्वामी की सेना के समान (सर्वे गुणा) पूर्वोक्त ध्यानादिक समस्तगुण (स्वार्थाय) अपने अपने फलकी सिद्ध करने के लिये (नालम्) समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ—जैसे नायक के विना सेना जय प्राप्त नहीं कर सकती, उसी प्रकार गुरु परम्परा से प्राप्त किये बिना ध्यानादिक सिद्धि के दाता नहीं होते।

जिनमताधिकार।

शिखरिणी।

न देवं नादेवं न शुभगुरुमेनं न कुगुरुं
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणम्।

न कृत्यं नाकृत्यं हितमहितं नापि निपुणं
विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिताः ॥ १७ ॥

कुण्डलिया छन्द

देव अदेव नहीं लखैं, सुगुरु कुगुरु नहिं सूझ।
धर्म अधर्म गनैं नहीं, कर्म अकर्म न बूझ॥
कर्म अकर्म न बूझ, गुण रु औगुण नहीं जानहिं।
हित अनहित नहीं सधैं, निपुणमूरख नहीं मानहिं॥
कहत बनारसि ज्ञानदृष्टि, नहिं अंध अवेवहिं।
जैनवचनदृगहीन, लखैं नहिं देव अदेवहिं॥ १७॥

अन्वयार्थी—(जिनवचनचक्षुर्विरहिताः) जिनेन्द्रदेवके वचन रूपी चक्षुओं से रहित (लोकाः) लोग (न) न (देवम्) देवको (विलोकन्ते) देखते हैं (न अदेवम्) न अदेव को, (न एनं शुभगुरुम्) न इन श्रेष्ठ गुरुको देखते हैं (न कुगुरुम्) न कुगुरुको, (न धर्मम्) न धर्म को देखते हैं (न अधर्मम्) न अधर्म को, (न गुणपरिणद्धम्) न गुणी देखते हैं (न निगुणम) न निर्गुण को, (न कृत्यम्) न करने योग्य देखते हैं, (अकृत्यम्) न करने के अयोग्य, (न हितम्) न हित देखते हैं, (न अहितम्) न अहित (अपि) और (न निपुणम्) न निपुण को देखते हैं, न मूर्ख को।

भावार्थ--जो जिनमत धारण नहीं करते हैं, वे अपना हिताहित कुछ भी नहीं जान सकते।

शार्दूलविक्रीडित।

मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो-
र्निर्माणं गुणदोपभेदकलनां तेषामसंभाविनीम्।

दुर्वार नरकान्धकूपपतन मुक्ति बुधा दुर्लभां
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां नकर्णातिथिः ॥

कवित्त

ताकौ मनुज जनम सब निष्फल,मन निष्फल निष्फल जुग कान।
गुण अर दोष विचार भेदविधि, ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान ॥
ताकौ सुगम नरक दुख संकट, अगमपथ पदवी निर्वान।
जिनमतवचन दयारसगर्भित, जे न सुनत सिद्धांतबखान ॥१८॥

अन्वयार्थौ—(येषाम्) जिन पुरुषों के (दयारसमय) दया रूपी रस से पूरित (सार्वज्ञ) सर्वज्ञ देवका कहा हुआ (समय) शास्त्र (कर्णातिथि) कर्णगोचर (न) नहीं हुआ है, (बुधा) पण्डितलोग (तेषाम्) उनका (मानुष्यम्) मनुष्यजन्म (विफलम्) निष्फल (वदन्ति) कहते हैं, (तेषाम्) उनके (हृदयम्) हृदय को (व्यर्थम्) व्यर्थ (वदन्ति) बतलाते हैं, (श्रोत्रयो निर्माणम्) उनके कर्णों के बनने को (वृथा) व्यर्थ कहते हैं, (गुणदोषभेदकलनाम्) उनके गुण और दोषों के भेद करने का विचार (असम्भाविनीम्) असम्भव है। उनका (नरकान्धकूपपतनम्) नरक रूपी अंधकूप में पड़ना (दुर्वारम्) रुक नहीं सकता और उन्हें (मुक्तिम्) मोक्ष (दुर्लभाम्) अत्यन्त दुर्लभ है।

पीयूष विषवज्जलं ज्वलनवत्तेजस्तम स्तोमव-
न्मित्रं शात्रववत्स्रजं भुजगवच्चिन्तामणिं लोष्ठवत्।
ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत्स मनुते कारुण्यपण्यापण
जैनेन्द्रं मतमन्यदर्शनसमं यो दुर्मतिर्मन्यते ॥१९॥

षट्पद।

अमृतको विष कहैं, नीरको पावक मानहिं।
तेज तिमिरसम गिनहिं, मित्रको शत्रु बखानहिं॥
पहुपमाल कहिं नाग, रतन पत्थर सम तुल्लहिं।
चंद्रकिरण आतपस्वरूप, इहि भांति जु भुल्लहिं॥
करुणानिधान अमलान गुन, प्रगट बनारसि जैनमत।
परमत समान जो मन धरत, सो अजान मूरख अपत॥१९॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (दुर्मतिः) मूर्ख पुरुष (कारुण्यपण्यापणम्) करुणा के निधान (जैनेन्द्रम् मतम्) जिनमतको (अन्दर्शनसमम्) अन्य मतों के समान (मन्यते) मानता है, (सः) वह पुरुष (पीयूषम्) अमृतको (विषवत्) विष के समान (मनुते) मानता है, (जलम्) जल को (ज्वलनवत्) अग्नि के समान, (तेजः) तेजको (तमःस्तोमवत्) अन्धकार के समूह के समान, (मित्रम्) मित्र को (शात्रववत्) शत्रु के समान, (स्रजम्) माला को (भुजगवत्) सर्प के समान, (चिन्तामणिम्) चिन्तामणि रत्न को (लोष्टवत्) मिट्टी के ढेले के समान और (ज्योत्स्नाम्) चन्द्रमा की चांदनी को (ग्रीष्मजघर्मवत्) ग्रीष्म ऋतु की धूप के समान (मनुते) मानता है।



धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथं
भिन्ते मत्सरमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिम्।
वैराग्यं वितनोति पुष्यति कृपां मुष्णाति तृष्णां च य-
त्तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती॥२०॥

मरहट्टा छन्द ।

शुभधर्म विकाशै, पाप विनाशै कुपथ उथप्पनहार ।
मिथ्यामत खंडै, कुनय विहंडै, मंडै दया अपार ॥
तृष्णा मद मारै, राग विडारै, यह जिन आगम सार ।
जो पूजैं ध्यावैं, पढैं पढावैं, सो जगमाहिं उदार ॥ २० ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो (धर्मम्) धर्म को (जागरयति) जगाता है अर्थात् आत्म धर्म का प्रकाश करता है, (अघम्) पाप को (विघटयति) विनाश करता है, (उत्पथम्) खोटे मार्ग को (उत्थापयति) उठाता है, (मत्सरम्) ईर्षा को (भिन्ते) खंड खंड करता है (कुनयम्) मिथ्या एकांत नय को (उच्छिनत्ति) उखाड़ कर फेंकता है, (मिथ्यामतिम्) मिथ्या ज्ञान को (मथ्नाति) मिटाता है, (वैराग्यम्) वैराग्य को (वितनोति) बढाता है, (कृपाम्) दया को (पुष्णाति) पुष्ट करता है (च) और (तृष्णाम्) तृष्णा को (मुष्णाति) चुराता है, (तत् जैन मतम्) उस जैन मत को (कृती) चतुर पुरुष (अर्चति) पूजते हैं, (प्रथयति) प्रसिद्ध करते हैं, (ध्यायति) ध्याते हैं, और (अधीते) पढ़ते हैं ।

अधिकार ।

रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः खं तारकाणामिव
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसां स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजाविधिः ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

जैसैं नभमंडल तारागण, रोहनशिखर रतनकी खान ।
ज्यौं सुरलोक भूरि कलपद्रुम, ज्यौं सरवर अंबुजवन जान ॥
ज्यौं समुद्र पूरन जलमंडित, ज्यौं शशिछविसमूह सुखदान ।
तैसैं संघ सकल गुणमन्दिर, सेवहु भावभगति मन आन ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—(रत्नानां रोहणक्षितिधरः इव) जैसे रोहणपर्वत रत्नो का स्थान है, (तारकाणां खं इव) जैसे आकाश तारागणों का स्थान है, (कल्पमहीरुहाणां स्वर्गः इव) जैसे स्वर्ग कल्पवृक्षो का स्थान है, (पङ्केरुहाणाम् सरः इव) जैसे तालाव कमलो का स्थान है, और (पयसां पाथोधिः इव) जैसे समुद्र पानी का स्थान है, उसी प्रकार से (असौ) यह चार प्रकार का संघ (इन्दुमहसां गुणानां) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल गुणों का (स्थानं) स्थान है, (इत्यालोच्य) ऐसा विचार करके (भगवतः संघस्य) ऐश्वर्यशाली सघ की (पूजा विधिः) पूजा विधि (विरच्यते) की जाती है ।



यः संसारनिराससालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते
यं तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्यः समः ।
यस्मै स्वर्गपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते
स्फूर्तिर्यस्य परा वसन्ति च गुणा यस्मिन्स संघोऽर्च्यताम्

जो संसार-भोग-आशा तज, ठानत मुकति पंथ की दौर ।
जाकी सेव करत सुख उपजत, जिहि समान उत्तम नहिं और ॥
इन्द्रादिक जाके पद वदत जो जंगम तीरथ शुचि ठौर ।
जामैं नित निवास गुन मंडन, सो श्रीसंघ जगत शिरमौर ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—(य) जो (ससारनिरासलालसमति सन्) जन्म मरण,रूप ससार के नाश करने की लालसा करता हुआ (मुक्त्यर्थम्) मोक्ष जाने के लिये (उत्तिष्ठते) उद्यत होता है, उसे (स संघ अन्यर्थताम्) वह सघ पूजना चाहिये (यम्) जिसको (पावनतया) पवित्रता के कारण (तीर्थम्) तीर्थ अर्थात् ससार से तिरनेका कारण (कथयन्ति) कहते हैं, (येन) जिसके (सम) समान (अन्य) और (न अस्ति) कुछ नहीं है, (यस्मै) जिसके लिये (स्वर्गपति) इन्द्र भी (नमस्यति) नमस्कार करता है (यस्मात्) जिससे (सताम्) सज्जनों का (शुभम्) कल्याण (जायते) होता है, (यस्य) जिसकी (परा) उत्कृष्ट (स्फूर्त्ति) दीप्ति है, (च) और (यस्मिन्) जिसमें (गुणा) अनेक गुण (वसन्ति) निवास करते हैं।

लक्ष्मीस्त स्वयमभ्युपैति रमातत्कीर्तिस्तमालिङ्गति
प्रीतिस्त भजते मतिः प्रयतते त लब्धुमुत्कण्ठया।
स्व. श्रीस्त परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते
यः संघ गुणसघकेलिसदन श्रेयोरुचिः सेवते ॥ २३ ॥

ताको आय मिलै सुखसपति कीरति रहै तिहूँ जग छाय।
जिनसों प्रीति बढ़ै ताके घट, दिन दिन धर्मबुद्धि अधिकाय॥
छिनछिन ताहि लखै शिवसुन्दरि, सुरगसंपदा मिलै सुभाय।
बानारसि गुनरासि संघकी, जो नर भगति करै मन लाय॥२३॥

अन्वयार्थौ—(य) जो (श्रेयोरुचि) अपना कल्याण चाहने

वाला पुरुष (गुणसघकेलिसदनम्) गुणसमुदायके क्रीड़ा करने के स्थानभूत (संघम्) संघ का (सेवते) सेवन करता है, (तम्) उस पुरुष के समीप (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (स्वयम्) अपने आप (अभ्युपैति) आकर उपस्थित हो जाती है, (कीर्त्तिः) कीर्त्ति (तम्) उस पुरुष को (रभसात्) बड़ी शीघ्रता से (आलिङ्गति) आलिंगन करती है, (प्रीतिः) प्रीति (तम्) उसका (भजते) सेवन करती है, (मतिः) बुद्धि (तम्) उसके (लब्धुम् उत्कण्ठया) मिलने की उत्कंठासे (प्रयतते) प्रयत्न करती है, (स्वः श्री) स्वर्ग की लक्ष्मी (तम् परिरब्धुम्) उससे रमण करने की (इच्छति) इच्छा करती है और (मुक्तिः) मुक्ति (तम्) उसको (मुहुः) वारवार (आलोकते) देखती है ।

यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः सस्यव-
चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादि तृणवत्प्रासङ्गिकं गीयते ।
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पतेः
संघः सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सतां मन्दिरम् ॥

जाके भजत मुकतिपदपावत, इन्द्रादिक पद गिनत न कोय ।
ज्यों कृषि करत धानफल उपजत, सहज पयार घास भुस होय ॥
जाके गुन जस जंपन कारन, सुरगुरु थकित होत मदखोय ।
सो श्रीसंघ पुनीत बनारसि, दुरित-हरन विचरत भुविलोय ॥२४॥

अन्वयार्थौ —(कृषेः सस्यवत्) जैसे खेती का मुख्य फल धान्य वा अनाज होना है, उसी तरह (यद्भक्तेः फलम्) संघ की भक्ति करने का फल (अर्हदादिपदवीमुख्यम्) अरहंत सिद्ध आदिक मुख्य मुख्य पदवियोका प्राप्त होना है, (चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादि) चक्रवर्त्ती इन्द्र आदिक पदवियां

(तृणवत) भूसा के समान (प्रासङ्गिकम्) प्रासंगिक (गीयते) गिनी जाती हैं। (यन्महिमस्तुतौ) और जिसकी महिमा की स्तुति करने में (वाचस्पते) बृहस्पति के (वाच अपि) वचन भी (शक्तिम्) शक्ति (न) नहीं (दधते) रखते हैं (स) ऐसा (अघहर) पाप का नाश करने वाला (संघ) संघ (सताम्) सज्जनों के (मन्दिरम्) घरों को (चरणन्यासैः), अपने चरणों से (पुनातु) पवित्र करो।

भावार्थ--खेती करने का मुख्य फल धान्य उत्पन्न होना है, धान्य के साथ घास भूसा आदिक तो स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं इसी तरह संघ की भक्ति करने से अरहतादि पदवियां मिलती हैं। यही इन्द्र चक्रवर्ती आदिक की पदवियां तो प्रसंगानुसार स्वयं मिल जाती हैं। अभिप्राय यह कि - संघ की भक्ति करने वाला इन्द्र चक्रवर्ती आदि के सुख भोगता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

अहिंसा अधिकार।

क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजः संहारवात्या भवो
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली सङ्केतदूती श्रियाम्।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः ॥ २५ ॥

बनारसी।

सुकृत की खान इन्द्रपुरी की नसैनी जान,
पापरजखंडन को पौनरासि पेखिए।

श्रेयः संवननं समृद्धिजननं सौजन्यसंजीवनं
कीर्त्तेः केलिवनं प्रभावभवनं सत्यं वचः पावनम् ॥ २९ ॥

षट्पद ।

गुणनिवास विश्वास दारिदुखखंडन ।
देवअराधन योग, मुकतिमारग, मुखमंडन ॥
सुयशकेलि-आराम, धाम सज्जन मनरंजन ।
नागवाघवशकरन, नीर-पावक-भयभंजन ॥
महिमा निधान सम्पतिसदन, मंगल मीत पुनीत मग ।
सुखरासि बनारसिदास भन, सत्यवचन जयवंत जग ॥२८॥

अन्वयार्थौ—(सत्यम् वचः) सत्यवचन (विश्वासायतनम्) विश्वास का घर है, (विपत्तिदलनम्) विपत्तियों को दूर करने वाला है, (देवैः कृताराधनम्) देवों से भी पूजित है, (मुक्तेः पथि अदनम्) मुक्ति के मार्ग में कलेवा है, (जलाग्निशमनम्) जल और अग्नि को शान्त करनेवाला है, (व्याघ्रोरगस्तम्भनम्) सिंह सर्पादिकों को स्तंभन करने वाला है, (श्रेयःसंवननम्) कल्याणों को वश करने वाला है, (समृद्धिजननम्) ऋद्धियों को उत्पन्न करने वाला है, (सौजन्यसंजीवनम्) सुजनता को जीवन देनेवाला है, (कीर्त्तेः केलिवनम्) कीर्त्तिके क्रीड़ा करने का बगीचा है, (प्रभावभवनम्) प्रभाव का मन्दिर है और (पावनम्) पवित्र है।

शिखरिणी

यशो यस्माद्भस्मीभवति वनवह्नेरिव वनं
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव ।
न यत्र स्याच्छायाऽऽतप इव तपःसंयमकथा
कथंचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥ ३० ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जो भस्मत करै निज कीरति, ज्यों वन अग्नि दहै वन सोय ।
जाके सँग अनेक दुख उपजत, बढ़ै वृक्ष ज्यों सींचत तोय ॥
जामैं धरमकथा नहिं सुनियत, ज्यों रविबीच छाहिं नहिं होय ।
सो मिथ्यात्व वचन बानारसि, गहत न ताहि विचक्षण कोय २०

अन्वयार्थी—(यस्मात्) जिस मिथ्या वचन से (वनवह्ने) दावानल अग्नि से (वनम् इव) वन के समान (यश) यश (भस्मीभवति) भस्म हो जाता है, (यत्) जो (अवनिरुहाणाम्) वृक्षों को (जलम् इव) जल के समान (दु खानाम्) दु खों का (निदानम्) कारण है, अर्थात् जिस तरह जल से वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उसी तरह झूठ से दु ख होते हैं (यत्र) और जिसमें (आतपे) धूप में (छाया इव) छाया के समान (तप सयमकथा) तप सयम आदि की कथा (न) नहीं (स्यात्) हो सकती, (तन्मिथ्यावचनम्) ऐसे मिथ्या वचन को (मतिमान्) बुद्धिमान् पुरुष (कथचित्) किसी तरह (न अभिधत्ते) धारण नहीं करते, अर्थात् बुद्धिमान् झूठ नहीं बोलते ।

वशस्थविलम्।

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदान परवञ्चनोर्जितं कृतापराध कृतिभिर्विवर्जितम् ॥

रोडक छन्द ।

कुमति कुरीत निवास, प्रीत परतीत निवारन ।
रिद्धिसिद्धिसुखहरन, विपत-दारिद-दुखकारन ॥

परवंचन उतपत्ति, सहज अपराध कुलच्छन।
सो यह मिथ्यावचन, नाहिं आदरत विचच्छन ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—(अप्रत्ययमूलकारणम्) अविश्वास का मूल कारण, (कुवासनासद्म) बुरी वासनाओं का घर, (समृद्धिवारणम्) सम्पत्ति का रोकने वाला, (विपन्निदानम्) विपत्तियों का कारण, (परवञ्चनोर्जितम्) दूसरों को ठगने के लिये किया जाने वाला, और (कृतापराधम) अनेक अपराधों का कराने वाला (असत्यम्) मिथ्या वचन (कृतिभिः) धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा (विवर्जितम्) वर्जित है। अर्थात् ऐसे वचन को धर्मात्मा कभी नहीं बोलते।



शार्दूलविक्रीडित।

तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः किङ्कराः
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिर्माल्यं मृगारिर्मृगः।
पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं
पीयूषं विषमं समं च वचनं सत्याञ्चितं वक्ति यः ॥३२॥

घनाक्षरी।

पावकतैं जल होय वारिधतैं थल होय,
शस्त्रतैं कमल होय ग्राम होय वनतैं।
कूपतैं विवर होय पर्वततैं घर होय,
वासवतैं दास होय हितू दुरजनतैं॥
सिंघतैं कुरंग होय व्याल स्यालअङ्ग होय,
विषतैं पियूष होय माला अहिफनतैं।
विषमतैं सम होय संकट न व्यापै कोय,
एते गुन होंय सत्यवादी के दरसतैं ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थी--(य) जो पुरुष (सत्याङ्किनम्) सत्य (वचनम्) वचन (वक्ति) बोलता है, (तस्य) उसको (अग्नि) अग्नि (जलम्) जल ('भवति') हो जाती है और (अर्णव) समुद्र (स्थलम्) स्थल हो जाता है। (अरि) शत्रु (मित्रम्) मित्र, (सुरा) देवता (किङ्करा) किङ्कर, (कान्तारम्) वन (नगरम्) नगर, (गिरि) पर्वत (गृहम्) घर, (अहि) सर्प (माल्यम्) माला, (मृगारि) सिंह (मृगः) हरिण, (पातालम्) पाताल (बिलम्) बिल, (अस्त्रम्) शस्त्र (उत्पलदलम्) कमल के दल, (व्याघ्र) दुष्ट हाथी (शृगाल) शृगाल, (विषम्) विष (पीयूषम्) अमृत (च) और (विषमम्) विषम (समम्) सम हो जाते हैं।

भावार्थ—सत्य बोलने वाले को जितने दुःख देने वाले पदार्थ हैं, वे सब सुख देने वाले हो जाते हैं।

अदत्तादान अधिकार।

मालिनी।

तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धि-
स्तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तं
परिहरति विपत्तं यो न गृह्णात्यदत्तम् ॥ ३३ ॥

रोड़क छन्द।

ताहि रिद्धि अनुसरै, सिद्धि अभिलाष धरै मन।
विपति संग परिहरै, जगत विस्तरै सुजस धन॥
भवभ्रम रती तिहि तजै, कुगति यहै न एक छन।
सो सुरसम्पति लहै, गहै नहिं जो अदत्त धन॥ ३३॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो पुरुष (अदत्तम्) विना दी हुई वस्तु (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है, (सिद्धिः) सिद्धि (तम्) उस पुरुष की (अभिलषति) अभिलाषा करती है, (समृद्धिः) समृद्धि (तम्) उसको (वृणीते) स्वीकार करती है, (कीर्त्तिः) कीर्त्ति (तम् अभिसरति) गुप्त रूप से उसके समीप आती है, (भवार्त्तिः) संसार के दुःख (तम्) उसको (मुञ्चते) छोड जाते हैं, (सुगतिः) स्वर्गादिक उत्तम गति (तम्) उसकी (स्पृहयति) स्पृहा करती है, (दुर्गतिः) नरकादिक दुर्गति (तम्) उसको (न ईक्षते) देखती ही नहीं है और (विपत्) विपत्ति (तम्) उसको (परिहरति) छोड़ देती है।



शिखरिणी।

अदत्तं नादत्ते कृतसुकृतकामः किमपि यः
शुभश्रेणिस्तस्मिन्वसति कलहंसीव कमले।
विपत्तस्माद्दूरं व्रजति रजनीवाम्बरमणे-
र्विनीतं विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति तम् ॥३४॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

ताको मिलै देवपद शिवपद, ज्यौं विद्याधन लहै विनीत।
तामैं आय रहै शुभ सम्पति, ज्यौ कलहस कमलसों मीत॥
ताहि विलोक दुरै दुख दारिद, ज्यौ रवि आगम रैन विदीत।
जो अदत्त धन तजत बनारसि, पुण्यवंत सो पुरुष पुनीत॥ ३४॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (कृतसुकृतकामः) पुण्योपार्जन की इच्छा करने वाला पुरुष (किमपि) कुछ भी (अदत्तम्) विना

दी हुई वस्तु (न आदत्ते) ग्रहण नहीं करता (तस्मिन्) उसमें,— (कमले) कमल में (कलहंसी इव) सुन्दर हंसिनी के समान (शुभश्रेणि) शुभ सम्पत्तियां (वसति) निवास करती हैं, (तस्मात्) उससे (अम्बरमणेः) सूर्य से (रजनी इव) रात्रि के समान (विपत्) विपत्तियां (दूरम्) दूर (व्रजति) भागती हैं, (तम्) और उस (विनीतम्) नम्रीभूत पुरुष को (विद्या इव) विद्या के समान (त्रिदिवशिवलक्ष्मी) स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी (भजति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—जिस तरह कमल में हंसिनी रहती है, उस तरह चोरी के त्यागी के सारी सम्पत्तियां रहती हैं, जिस तरह सूर्य से रात भागती है, उस तरह चोरी के त्यागी से विपत्तियां दूर भागती हैं और जिस तरह विनयवान् पुरुष को विद्या शीघ्र प्राप्त होती है, उसी तरह अचौर्यव्रतीको स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है।

शार्दूलविक्रीडित।

यन्निर्वर्तितकीर्तिधर्मनिधनं सर्वागसां साधनं
प्रोन्मीलद्वधबन्धनं विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम्।
दौर्गत्यैकनिबन्धनं कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनं
प्रोत्सर्पत्प्रधनं जिघृक्षति न तद्धीमानदत्तं धनम् ३५

मत्तगयंद छंद

जो कीरति गोपहि, धरम विलोपहि, करहि महा अपराध।
जो शुभगति तोरहि, दुरगति जोरहि, जोरहि युद्ध उपाध॥
जो सब दुख आनहि, दुगति ठानहि, बधबंधनको गेह।
सब औगुणमंडित, गहैं न पंडित, धन अदत्तसो येह॥ ३५॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो विना दिया हुआ धन (निर्वर्त्तितकीर्त्तिधर्मनिधनम्) पूर्वोपार्जित कीर्त्ति और धर्म का नाश करने वाला है, (सर्वागसाम्) समस्त पापों का (साधनम्) कारण है, (प्रोन्मीलद्वधबन्धनम्) वधबन्धन को प्रगट रूप से करने वाला है, (विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम्) अनेक क्लेशों को देने वाला है, (दौर्गत्यैकनिबन्धनम्) दुर्गतियों का मुख्य कारण है, (कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनम्) सुगतियों को दृढ़तापूर्वक रोकने वाला है और जो (प्रोत्सर्पत्प्रधनम्) युद्ध कराने वाला है, (तत्) ऐसे (अदत्तम्) विना दिये हुए (धनम्) धन को (धीमान) बुद्धिमान् पुरुष (न जिघृक्षति) ग्रहण करने की इच्छा कभी नहीं करते हैं।

हरिणी।

परजनमनःपीडाक्रीडावनं वधभावना-
भवनमवनिव्यापिव्यापल्लतावनमण्डलम् ।
कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकाङ्क्षिणाम् ॥ ३६ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जो परजन-सताप-केलिवन, जो वध बंध कुबुद्धि निवास।
जो जग विपतिबेलघनमंडल, जो दुर्गति-मारग-परकास ॥
जो सुरलोक द्वार दृढ आगल, जो अपहरण मुक्तिसुखवास।
सो अदत्त धन तजत साधु जन, निजहितहेत बनारसिदास॥३६॥

अन्वयार्थौ—(परजनमनः पीडाक्रीडावनम्) जो दूसरों को मानसिक पीड़ा की क्रीड़ास्थान है, (वधभावनाभवनम्) हिंसा करने की भावनाओं

का घर है, (अवनिरुग्रविपद्यावल्लताघनमण्डलम्) समस्त भूमडल पर फैलने वाली विपत्ति रूप लताओं के लिये मेघमडल है, (कुगतिगमने) कुगति में जाने के लिये (मार्ग) मार्ग है, (स्वर्गापवर्गपुरार्गलम्) और स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को रोकने के लिये अर्गल है ऐसा (स्तेयम्) चौर्य कर्म (हितकाङ्क्षिणाम्) अपना कल्याण चाहने वाले (नृणाम्) मनुष्यों, को (नियतम) अवश्य ही (अनुपादेयम्) छोड देने योग्य है ।

शीलाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
सकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ३७

कवित्त (३१ मात्रा) ।

सो अपयशको डंका बजावत, लावत कुल कलंक परधान ।
सो चारितको देत जलाञ्जुलि, गुन बनको दावानल दान ॥
सो शिवपथ किवार बनावत, आपति बिपति मिलनको थान ।
चिन्तामणिसमान जग जो नर, शील रतन निज करत मलान ३७

अन्वयार्थौ—(येन) जिस पुरुष ने (त्रैलोक्यचिन्तामणिः) तीनों लोकों की वस्तुओं को प्राप्त करा देने वाले चिन्तामणि रत्न के समान (निजम्) अपना (अखिलम्) समस्त (शीलम्) शीलव्रत (विलुप्तम्) खो दिया, (तेन) उसने (जगति) संसार में (अकीर्त्तिपटह) अपयश का डका

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति
व्यालोऽपि श्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति ।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद्ध्रुवम् ४०

छप्पय ।

अग्नि नीरसम होय, मालसम होय भुजंगम ।
नाहर मृगसम होय, कुटिल गज होय तुरंगम ॥
विप पियूपसम होय, शिखर पापानखड मितु ।
विघन उलट आनंद होय, रिपु पलट होय हितु ॥
लीलातलाव सम उदधिजल, गृहसमान अटवी विकट ।
इहिविधि अनेक दुख होहिं सुख, शीलवंत नरके निकट ॥४०॥

अन्वयार्थौ—(शीलप्रभावात्) शील व्रत के प्रभाव से (ध्रुवम्) निश्चय से (नृणाम्) मनुष्यो को (अग्निः अपि) अग्नि भी (तोयति) जल के समान हो जाती है, (अहिः अपि) सर्प भी (स्रजति) माला के समान हो जाता है (व्याघ्रः अपि) व्याघ्र भी (सारङ्गति) हरिण के समान हो जाता है, (व्यालः अपि) दुष्ट हिंसकपशु भी (श्वति) कुत्ते के समान हो जाता है, (पर्वतः अपिः) पर्वत भी (उपलति) पाषाण के समान हो जाता है (क्ष्वेडः अपि) विष भी (पीयूषति) अमृत के समान हो जाता है, (विघ्नः अपि) विघ्न भी (उत्सवति) उत्सव के समान हो जाते हैं, (अरिः अपि) शत्रु भी (प्रियति) मित्र के समान हो जाता है ।

(अपां नाथः अपि) समुद्र भी (क्रीडासरायति) क्रीड़ा करने के सरोवर के समान हो जाता है और (अटवी अपि) वन भी (स्वगृहति) अपने घर के समान हो जाता है ।

परिग्रहाधिकार ।

कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन्धर्मद्रुमोन्मूलनं
क्लिश्नन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्द्धयन् ।
मर्यादातटमुद्रुजञ्छुभमनोहंसप्रवासं दिश-
न्किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः ॥४१॥

कवित्त । ३१ मात्रा)

अतर मलिन होय निज जीवन, विनसै धर्मतरोवरमूल ।
किलसैं दयानीतिनलिनीवन, धरैं लोभ सागर तन थूल ॥
उठैं वाद मरजाद मिटैं सब, सुजन हंस नहीं पावहिं भूल ।
बढत पूर पूरैं दुख संकट, यह परिग्रह सरितासम तूल ॥ ४१॥

अन्वयार्थो—(जडस्य) मूर्खों को या जलको (कालुष्यम्) कलुषित (जनयन्) करता हुआ, (धर्मद्रुमोन्मूलनम् रचयन्) धर्म रूपी वृक्ष को मूल से उखाड़ता हुआ, (नीतिकृपाक्षमाकमलिनीम्) नीति कृपा क्षमा रूपी कमलिनियों को (क्लिश्नन्) क्लेश पहुँचाता हुआ, (लोभाम्बुधिम्) लोभ रूपी समुद्र को (वर्द्धयन्) बढाता हुआ, (मर्यादातटम्) मर्यादा रूपी किनारे को (उद्रुजन्) उखाड़ता हुआ, (शुभमनोहंसप्रवासम्) सज्जन रूपी हंसों का प्रवास करने का (दिशन्) उपदेश देता हुआ अर्थात् उन्हें उखाड़ता हुआ और (प्रवृद्धिम् गतः) नित्य बढ़ता हुआ जो (परिग्रहनदीपूरः)

परिग्रहरूपी नदी का पूर है, सो (किम्) क्या (क्लेशकरः) क्लेशों का करने वाला (न) नहीं है ?

भावार्थ – जैसे नदी का पूर अनेक दुखों को देने वाला है, उसी तरह परिग्रह भी अनेक दुःखों का देनेवाला है।



मालिनी

कलहकलभविन्ध्यः कोपगृध्रश्मशानं
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः ।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥४२॥

मनहरण ।

कलह गयन्द उपजाइवेको विंधगिरि,
कोप गीधके अघाइवेको समशान है ।
संकट भुजंगके निवास करिवेको बिल,
वैरभाव चोर को महानिशा समान है ॥
कोमल सुगुन घन खडवेको महा पौन,
पुण्यवन दाहिवेको दावानलदान है ।
नीत नय नीरज नसाइवेको हिमरासि,
ऐसा परिग्रहराग दुखको निधान है ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थो—(अत्यर्थम् अर्थानुरागः) परिग्रह में अत्यन्त अनुराग करना (कलहकलभविन्ध्यः) कलह रूपी हाथी को उत्पन्न करने के लिए विन्ध्याचल पर्वत है, (कोपगृध्रश्मशानम्) क्रोध रूपी गीध के लिए श्मशान-भूमि है, (व्यसनभुजगरन्ध्रम्) द्यूतादिक व्यसन रूपी सर्पों के निवास करने के लिए बिल है, (द्वेषदस्युप्रदोषः) द्वेष रूपी चोर के लिए रात्रि है,

(सुकृतवनदवाग्नि) पुण्य रूपी वन को जलाने के लिए दावानल है (मार्दवाम्भोदवायु) मार्दव रूपी बादलों को उड़ाने के लिए वायु है और (नयनलिनतुषार) नीति रूपी कमल को नष्ट करने के लिये तुषार है।

शार्दूलविक्रीडित।

प्रत्यर्थी प्रशमस्य मित्रमधृतेर्मोहस्य विश्रामभूः
पापानां खनिरापदां पदमसध्यानस्य लीलावनम्।
व्याक्षेपस्य निधिर्मदस्य सचिवः शोकस्य हेतुः कलेः
केलीवेश्म परिग्रहः परिहृतेर्योग्यो विविक्तात्मनाम् ॥४३॥

प्रशमको अहितु अधीरजको बाल हितू,
महामोहराजाको प्रसिद्ध राजधानी है।
भ्रमको निधान दुर्ध्यानको विलासवन,
विपत को थान अभिमान की निशानी है।
दुरितको खेत रोग सोग उतपत्ति हेत,
कलहनिकेत दुरगतिको निदानी है।
ऐसो परिग्रहभोग सबनको त्याग जोग,
आतम गवेषी लोग याही भांति जानी है ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थो—जो (प्रशमस्य) प्रशम अर्थात् शान्त परिणामों का (प्रत्यर्थी) शत्रु है, (अधृतेः) अधैर्य का (मित्रम्) मित्र है (मोहस्य) मोह के (विश्रामभूः) विश्राम करने का स्थान है, (पापानाम्) पापों की (खनि) खनि है, (आपदाम्) आपत्तियों का (पदम्) स्थान है, (असद्ध्यानस्य) आर्त रौद्रादिक खोटे ध्यानों के (लीलावनम्) क्रीड़ा

करने का वन है, (व्याक्षेपस्य) कलह का (निधि:) खज़ाना है, (मदस्य) अभिमान अथवा उन्मत्तता का (सचिव:) मन्त्री है, (शोकस्य) शोक का (हेतु:) कारण है और (कलेः) कलियुग के (केलीवेश्म) क्रीड़ा करने का घर है, ऐसा (परिग्रह:) परिग्रह (विविक्तात्मनाम) आत्मा को अन्वेषण करने वाले मनुष्यों को (परिहृतेः) छोड़ देने के (योग्यः) योग्य है।

भावार्थ—आत्मा का कल्याण करने वाले मनुष्यों को परिग्रह छोड़ देना ही उचित है।

वन्हिस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिरम्भोनिधि-
स्तद्वल्लोभघनो घनैरपि धनैर्जन्तुर्न संतुष्यति।
न त्वेवं मनुते विमुच्य विभवं निःशेषमन्यं भवं
यात्यात्मा तदहं मुधैव विदधाम्येनांसि भूयांसि किम् ४४

छप्पय।

ज्यौं नहिं अग्नि अघाय, पाय ईंधन अनेक विधि।
ज्यौं सरिता घन नीर, तृपत नहीं होय नीरनिधि॥
त्यौं असंख धन बढ़त, मूढ़ सतोष न मानहिं।
पाप करत नहीं डरत, बंधकारन मन आनहिं॥
परतक्ष विलोक जन्मन मरन, अथिररूप संसार क्रम।
समुझै न आप परताप गुन, प्रगट बनारसि मोह भ्रम॥४४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (इह) इस लोक में (इन्धनैः) ईन्धन से (वह्नि) अग्नि (न तृप्यति) तृप्त नहीं होती, (अम्भोभिः) जल से (अम्भोनिधिः) समुद्र (न) तृप्त नहीं होता, (तद्वत्) उसी तरह

(लोभघन) अत्यन्त लोभी (जन्तु) प्राणी (धनैं अपि धनै) अधिक से अधिक धन होनेपर भी (न सन्तुष्यति) सन्तुष्ट नहीं होता है (तु) और (आत्मा) मेरा यह आत्मा (निःशेषम्) यहां की सारी (विभवम्) विभूति को (विमुच्य) छोड़ कर (अन्यम्) दूसरे (भवम्) भव में (याति) चला जाता है (तत्) इसलिए (अहम्) मैं (मुधा एव) व्यर्थ ही (भूयांसि) अनेक घोर (एनांसि) पापों को (किम्) क्यों (विदधामि) करता हूँ ! (एवम् न मनुते) ऐसा कभी विचार भी नहीं करता है।

~~~~~~~~~

क्रोधाधिकार ।

यो मित्रं मधुनो विकारकरणे सन्त्राससंपादने
सर्पस्य प्रतिबिम्बमङ्गदहने सप्तार्चिषः सोदरः ।
चैतन्यस्य निषूदने विषतरोः सब्रह्मचारी चिरं
स क्रोधः कुशलाभिलाषकुशलैर्निर्मूलमुन्मूल्यताम् ॥४५॥

गीता छन्द ।

जो सुजन चित्त विकार-कारन, मनहु मदिरापान ।
जो भरम भय चिन्ता बढ़ावत, असित सर्प समान ॥
जो जंतुजीवनहरन विषतरु, तनदहन दव दान ।
सो कोपरास विनास भविजन, लहहु शिव सुखथान ॥४५॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो क्रोध (विकारकरणे) चित्त के विकार करने में (मधुनः) मद्यका (मित्रम्) मित्र है (सन्त्राससम्पादने) भय उत्पन्न करने में (सर्पस्य प्रतिबिम्बम्) सर्पका प्रतिबिम्ब है, (अङ्गदहने) शरीर के जलाने में (सप्तार्चिषः) अग्नि का (सोदरः) भाई है, (चैतन्यस्य-
~~~~~~~~~

निपूदने) और चैतन्य शक्ति को नष्ट करने के लिए (विषतरोः) विष वृक्ष का (चिरम् सब्रह्मचारी) चिरकाल का साथी है, (सः क्रोधः) ऐसा जो क्रोध है सो (कुशलाभिलापकुशलैः) आत्मा को कुशल रखने में चतुर पुरुषों को (निर्मूलम्) जड़ से (उन्मूल्यताम्) उखाड़ डालना चाहिए अर्थात् क्रोध बिल्कुल नहीं करना चाहिये।

हरिणी।

फलति कलितश्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः
प्रशममपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः।
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो
भजति लभते भस्मीभावं तदा विफलोदयः ४६

कवित (३१ मात्रा)

जब मुनि कोइ बोइ तप तरुवर, उपशम जल सींचत चित खेत।
उदित ज्ञान साखा गुण पल्लव, मंगल पहुप मुकतिफलहेत॥
तब तिहि कोप दवानल उपजत, महामोह दल पवन समेत।
सो भस्मत करत छिन अंतर, दाहत विरखसहित मुनिचेत॥४६॥

अन्वयार्थौ—(प्रशमपयसा) शान्त परिणाम रूपी जल से (सिक्तः) सींचा हुआ (तपश्चरणद्रुमः) तपश्चरणरूपी वृक्ष (कलितश्रेयःश्रेणी-प्रसूनपरम्परः) अनेक कल्याण रूपी पुष्पो की परम्परा से सुशोभित होता है और (मुक्तिम् फलति) मोक्ष रूपी फल को फलता है। (यदि) यदि (पुनः असौ) यह वृक्ष (प्रकोपहविर्भुजः) क्रोध रूपी अग्नि से (प्रत्यासत्ति) सम्बन्ध को (भजति) प्राप्त होता है, (तदा) तो (विफलोदयः 'सन्') बिना फल दिये ही (भस्मीभावम् लभते) भस्म हो जाता है।

शार्दूलविक्रीडित ।

संतापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ४७

वस्तु छन्द ।

कलह मंडन कलह मंडन करन उद्वेग ।
यशखंडन हित हरन, दुखविलापसंतापसाधन ॥
दुर्वचन समुच्चरन, धरम पुण्य मारग विराधन ।
विनय दमन दुरमति गमन, कुमति रमन गुणलोप ॥
ये सब लक्षण जान मुनि, तजहि ततक्षण कोप ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—(य) जो क्रोध (सन्तापम्) संताप को (तनुते) बढ़ाता है, (विनयम्) विनय को (भिनत्ति) नष्ट कर देता है, (सौहार्दम्) मित्रता को (उत्सादयति) उखाड़ कर फेंक देता है, (उद्वेगम्) उद्वेग को (जनयति) उत्पन्न करता है, (अवद्यवचनम्) मिथ्या वचनों को (सूते) उत्पन्न करता है, (कलिम्) कलह (विधत्ते) करता है, (कीर्त्तिम्) कीर्ति को (कृन्तति) काट डालता है, (दुर्मतिम्) कुबुद्धि को (वितरति) देता है, (पुण्योदयम्) पुण्योदय को (व्याहन्ति) नाश करता है, (कुगतिम्) कुगति को (दत्ते) देता है और (सदोष) अनेक दोषों से भरा हुआ है, (स रोष) ऐसा जो क्रोध है सो (सताम्) सज्जन पुरुषों को (हातुम् उचित) छोड़ने ही योग्य है ।

यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मथ्नाति नीतिं लतां
दन्तीवेन्दुकलां विधुंतुद इव क्लिश्नाति कीर्तिं नृणाम्
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं
तृष्णां घर्म इवोचितः कृतकृपालोपः स कोपः कथम् ४८

छप्पय।

कोप धरम धन दहै, अग्नि जिम विरख विनासहि।
कोप सुजस आवरहि, राहु जिम चंद गरासहि॥
कोप नीति दलमलहि, नाग जिम लता विहंडहि।
कोप काज सब हरहि, पवन जिम जलधर खंडहि॥
सचरत कोप दुख ऊपजै, बढै तृषा जिम धूपमहँ।
करुणा विलोप गुण गोप जुत, कोप निषेध महन्त-कहँ॥ ४८॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो क्रोध (द्रुमम् दव इव) वृक्ष को दावानल अग्नि के समान (नृणाम्) मनुष्यों को (धर्मम्) धर्म को (दहति) जला देता है, (लताम् दन्ती इव) लता को हाथी के समान (नीतिम्) नीति को उन्मथ्नाति) उखाड़ कर फेंक देता है, (इन्दुकलाम् विधुंतुदः इव) चन्द्रमा की कला को राहु के समान (कीर्तिम्) कीर्ति को (क्लिश्नाति) ढक लेता है, (अम्बुदम् वायुः इव) बादल को वायु के समान (स्वार्थम्) अपने स्वार्थ को (विघटयति) नष्ट कर देता है, (तृष्णाम् घर्मः इव) प्यास को धूप के समान (आपदम्) आपत्तियों को (उल्लासयति) उत्तेजित करता है और (कृतकृपालोपः) करुणा का सर्वथा

कोप कर देता है (स कोपः) ऐसा कोप करना (कथम्) किस प्रकार (उचितः) उचित हो सकता है ?

मानाधिकार

मन्दाक्रान्ता।

यस्मादाविर्भवति विततिर्दुस्तरापन्नदीनां
यस्मिञ्शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति।
यश्च व्याप्तं वहति वधधीधूम्यया क्रोधदावं
तं मानाद्रिं परिहर दुरारोहमौचित्यवृत्तेः॥ ४६॥

कवित्त (मात्रा ३१)।

जातैं निकसि विपति सरिता सब, जगमैं फैल रही चहुं ओर।
जाके ढिग गुणग्राम नाम नहीं, माया कुमतिगुफा अति घोर॥
जहँ वधबुद्धि धूमरेखा सम, उदित कोप दावानल जोर।
सो अभिमान पहार पटंतर, तजत ताहि सर्वज्ञकिशोर॥ ४६॥

अन्वयार्थौ—(यस्मात्) जिस अहंकार रूपी पर्वत से (दुस्तरापन्नदीनाम्) विकराल आपत्तिरूप नदियों के (विततिः) समूह (आविर्भवति) निकलते हैं, (यस्मिन्) जिस पर्वत में (शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनाम अपि) शिष्ट पुरुषों के धारण करने योग्य गुणरूपी ग्राम का नाम भी (नास्ति) नहीं है, (च) और (यः) जो (वधधीधूम्यया) हिंसा करने के परिणाम रूप धूम के साथ (व्याप्तम्) चारों ओर फैले हुए (क्रोधदावम्) क्रोध रूपी दावानल को (वहति) धारण करता है, (तम्) उस (दुरारोहम्) कठिनता से चढ़ने योग्य (मानाद्रिम्) अहंकार रूपी पर्वत को

(औचित्यवृत्तेः) उचित वृत्ति से अर्थात् अनुचित कार्यों और आचरणों के द्वारा (परिहर) छोड़ दें।

शिखरिणी।

शमालानं भञ्जन्विमलमतिनाडीं विघटय-
न्किरन्दुर्वाक्पांशूत्करमगणयन्नागमसृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयवनवीथीं विदलयन्
जनः कं नानर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव ॥५०॥

रोड़क छन्द।

भंजहिं उपशम थंभ, सुमति जंजीर विहडहिं।
कुवचन रज संग्रहहिं, विनयवनपंकति खडहिं॥
जगमें फिरहिं स्वछन्द, वेद अंकुश नहीं मानहिं।
गज ज्यों नर मद अन्ध, सहज सब अनरथ ठानहिं॥५०॥

अन्वयार्थौ—(शमालानम्) शान्तता रूप आलानको (भञ्जन्) उखाड़ता हुआ, (विमलमतिनाडीम्) निर्मल बुद्धि रूपी संकल को (विघटयन्) तोड़ता हुआ, (दुर्वाक्पांशूत्करम्) दुष्ट वचन रूपी धूलि-समूह को (किरन्) उड़ाता हुआ, (आगमसृणिम्) शास्त्र रूपी अकुश को (अगणयन्) नहीं मानता हुआ, (उर्व्याम्) संसारमें (स्वैरम्) स्वच्छन्द (भ्रमन्) फिरता हुआ, (विनयवनवीथीम्) विनय रूपी निकुंजों को (विदलयन्) कुचलता हुआ, (मदान्धः) अहंकार से अन्धा (जनः) मनुष्य (मदान्धः) मदोन्मत्त (द्विप इव) हाथी के समान (कम् अनर्थम) कौन कौन से अनर्थ (न जनयति) नहीं करता ! अर्थात ऐसा कोई उपद्रव नहीं है, जिसे अभिमानी न कर डाले।

शार्दूलविक्रीडित ।

औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाह नभस्वानिव
प्रध्वंस विनय नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ।
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यञ्जसा
मानो नीच इवोपकारनिकर हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ॥५१॥

कवित्त छंद ।

मान सब उचित आचार भंजन करै
पवन संचार जिम घन बिहंडहि ।
मान आदर तनय विनय लोपै सकल,
भुजंग विष भीर जिम मरन मंडहि ॥
मानके उदित जगमाहीं विनसै सुयश,
कुपित मातंग जिम कुमुद खंडहि ।
मानकी रीति विपरीति करतूति जिम,
अधमकी प्रीति नर नीति छंडहि ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(नभस्वान् पयोवाहम् इव) जैसे वायु बादल को नष्ट कर देता है, उसी तरह (मान) अभिमान (औचित्याचरणम्) उचित आचरणों का (विलुम्पति) लोप कर देता है, (प्राणस्पृशाम्) प्राणियों के (जीवितम्) जीवन को (अहि इव) जैसे सर्प नष्ट कर देता है, वैसे (विनयम्) विनय का (प्रध्वंसम्) नष्ट (नयति) कर देता है, (कैरविणीम्) कमलिनी को (मतङ्गज इव) जैसे मस्त हाथी उखाड़ डालता है वैसे (कीर्तिम्) कीर्तिको (अञ्जसा) शीघ्र ही (प्रोन्मूलयति) उखाड़ कर फैंक देता है, (उपकारनिकरम्) और उपकारों के समूह को (नीच इव) जैसे नीच नष्ट कर देता है—भूल जाता है, वैसे

(नृणाम्) मनुष्यों के (त्रिवर्गम्) धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पदार्थों को (हन्ति) नष्ट कर देता है।

वसन्ततिलका।

मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं
संजीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम्।
जात्यादिमानविषजं विषमं विकारं
तं मार्दवामृतरसेन नयस्व शान्तिम् ॥ ५२ ॥

चौपाई (मात्रा १५)

मान विषम विष तन संचरै। विनय विनाशै वांछित हरै ॥
कोमल गुन अम्रत संजोग। विनशै मान विषम विषरोग ॥५२॥

अन्वयार्थौ—हे भव्यो, (यः) जो (अङ्गभाजाम्) प्राणियों के (कृतसमस्तसमीहितार्थम) सारे वांछित पदार्थों के देने वाले और (सजीवनं) संजीवन स्वरूप (विनयजीवितम्) विनय जीवन को (मुष्णाति) चुरा लेता है, (तम्) उस (जात्यादिमानविषजम्) जाति, कुल, बल, ऋद्धि तप, शरीर, ज्ञान और ऐश्वर्य के अभिमान करने रूप विषसे उत्पन्न हुए (विषमम्) विषम (विकारम्) विकार को (मार्दवामृतरसेन) मार्दवरूपी अमृत रस से (शान्तिम्) शान्त (नयस्व) करो।

मायाधिकार।

मालिनी

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।

शमकमलहिमानी दुर्यशोराजधानीं
व्यसनशतसहाया दूरतो मुञ्च मायाम् ॥ ५३ ॥

रोड़क छन्द।

कुशल जननको बाँझ, सत्य रवि हरन साँझथिति।
कुगति युवतिउर माल, मोह कुंजर निवास छिति॥
शम वारिज हिमराशी, पाप संताप सहायनि।
अयश खान जग जान, तजहु माया दुखदायनि॥ ५३ ॥

अन्वयार्थो—(कुशलजननवन्ध्याम्) जो कुशलता के उत्पन्न करने में बन्ध्या है, (सत्यसूर्यास्तसन्ध्याम्) सत्यरूपी सूर्य के अस्त होने के लिये सन्ध्या है, (कुगतियुवतिमालाम्) नरकादिक दुर्गतिरूप तरुणी की वर माला है, (मोहमातङ्गशालाम्) मोहरूपी हाथी के रहने के लिये शाला है, (शमकमलहिमानीम्) उपशमरूपी कमलों को नष्ट करने के लिये हिमकी (तुषारकी) राशि है, (दुर्यशोराजधानीम्) अपयश की राजधानी है और (व्यसनशतसहायाम्) सैकड़ों व्यसनों को सहायता देने वाली है, ऐसी (मायाम्) माया को (दूरत) दूर से ही (मुञ्च) छोड़ दो।

उपेन्द्रवज्रा।

विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाः स्वमेव ५४

बेसरी छन्द।

मोहमगन मायामति संचहिं। कर उपाय औरनको बंचहिं।
अपनी हानि लखें नहिं सोय। सुगति हरैं दुर्गति दुख होय ५४

अन्वयार्थौ—(ये) जो पुरुष (विविधैः उपायैः) नाना प्रकार के उपायों से (मायाम्) कपट (विधाय) करके (परस्यवञ्चनम् आचरन्ति) दूसरे लोगों को ठगते हैं, (ते) वे (महामोहसखाः) मोह के प्यारे मित्र (स्वम् एव) अपने को ही (त्रिदिवापवर्गसुखात्) स्वर्ग और मोक्ष के सुख से (वञ्चयन्ति) वंचित रखते हैं। अर्थात् दूसरों को माया चार से ठगने वाले वास्तव में पूंछा जाय, तो आपही को ठगते हैं। क्योंकि उस माया चार से वे स्वर्ग मोक्षादि के सुख नहीं पा सकते हैं।

वंशस्थविलम्।

मायामविश्वासविलासमन्दिरं
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते
यथा विडालो लगुडं पयः पिबन् ॥ ५५ ॥

पद्धरी छन्द।

माया अविसासविलासगेह। जो करहि मूढ जन धन-सनेह।
सो कुगतिबन्ध नहिं लखैं एम। तज भय बिलाव पय पियत जेम ५५

अन्वयार्थौ—(यः) जो (दुराशयः) खोटे परिणामों वाला मनुष्य (धनाशया) धन की इच्छा से (अविश्वासविलासमन्दिरम्) अविश्वास के क्रीड़ा करने की शालारूप (मायां) माया को (कुरुते) करता है, (सः) वह (पतन्तम्) ऊपर से पड़ते हुए (अनर्थसार्थम्) अनर्थों के समूह को (न) इस प्रकार नहीं (ईक्षते) देखता है, (यथा) जैसे कि

(पय) दूध) (पिबन्) पीता हुआ (विडाल) बिलाव (लगुडम्) ऊपर से पड़ती हुई लकड़ी को नहीं देखता है।

वसन्ततिलका।

मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जहीते
यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्तेः।
जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा
नापथ्यभोजनमिवामयमायतौ तत्॥ ५६॥

अमानक छन्द।

ज्यों रोगी कर कुपथ, बढावै रोग तन।
स्वाद्लपटी भयो, कहैं मुक्ष जनम धन॥
त्यों कपटी कर कपट, मुगधको धन हरहि।
करहि कुगतिको मग, हरप मनमें धरहि॥ ५६॥

अन्वयार्थौ—(कपटलम्पटचित्तवृत्ते) जिनके विचार सदा कपट करने में ही तत्पर रहते हैं, ऐसे कपटी पुरुषों का (यत्) जो (मुग्धप्रतारणपरायण) भोले पुरुषों के ठगने में तत्पर (पाटवं) चातुर्य (उज्जहीते) उल्लासित होता है, (तत्) वह कपट चातुर्य (अवश्य) निश्चय समझो कि, (आयतौ) फलदान काल में (अपथ्यभोजन आमयमिव) जैसे अपथ्य भोजन रोग उत्पन्न किये बिना नहीं पचता, उस तरह (इहापि) इसी लोक में (उपप्लवमकृत्वा) बिना कुछ उपद्रव किये (न जीर्यति) नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ—जैसे अपथ्य भोजन करने से कुछ न कुछ रोग होता ही है, बिना रोग हुए अपथ्य भोजन पचता नहीं, इसी तरह मायावी पुरुष का

कपट चातुर्य भी बिना कुछ उपद्रवादिक फल दिये नहीं रहता।

लोभाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते ।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ५७

मनहरण ।

सहैं घोर संकट समुद्रकी तरंगनिमैं,
कंपैं चित भीत पंथ गाहैं बीच बनमैं ।
ठानैं कृषिकर्म जामैं शर्मको न लेश कहूँ,
संकलेशरूप होय जूझ मरैं रनमैं ॥
तजैं निज धामको बिराजि परदेश धावैं,
सेवैं प्रभु कृपण मलीन रहैं मनमैं ।
डोलैं धन कारज अनारज मनुज मूढ,
ऐसी करतूति करैं लोभकी लगनमैं ॥५७॥

अन्वयार्थौ—(धनान्धितधियः) जिनकी बुद्धि धन से अंधी हो रही है, ऐसे पुरुष (यत्) जो (दुर्गाम्) दुगम् (अटवीम्) अटवी में (अटन्ति) भटकते फिरते हैं, (विकटम्) विकट (देशान्तरम्) पर देश में (क्रामति) गमन करते हैं, (गहनम्) अत्यन्त गहरे (समुद्रम्) समुद्र का (गाहन्ते) अवगाहन करते हैं, (अतनुक्लेशाम्) अत्यन्त क्लेश देने वाली (कृषिम्) खेती (कुर्वते) करते हैं, (कृपणम्) कृपण (पतिम्) स्वामी की (सेवन्ते)

सेवा करते हैं और (गजघटासघट्टदु सङ्ग्राम्) अनेक हाथियों के संघट्टसे जहां चलना मुश्किल होता है ऐसे (प्रधनम्) घोर युद्ध में (सर्पन्ति) जाकर युद्ध करते हैं, (तत्) सो सब (लोभविस्फूर्जितम्) लोभ के वशी भूत होकर करते हैं।

भावार्थ—लोभ के वशीभूत होकर लोग कठिन से कठिन कार्य तथा अकार्य करते हैं।

मूलं मोहविपद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः
क्रोधाग्नेररणिः प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः।
क्रीडासद्म कलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी-
सिन्धुः कीर्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयताम् ॥५८॥

पूरन प्रताप रवि रोकवेको [1]धाराधर,
सुकृत समुद्र सोखवेको [2]कुम्भनद है।
कोप दव पावक जननको अरणि दारु,
मोह विष [3]भूरुहको महा दृढ कंद है॥
परम विवेक [4]निशिमणि ग्रासवेको राहु,
कीरतिलताकलाप दलन गयंद है।
कलहको केलिभौन आपदा नदीको सिंधु,
ऐसो लोभ याहुको विपाक दुख द्वंद है॥५८॥

अन्वयार्थो—(मोहविपद्रुमस्य) जो मोह रूपी विष वृक्ष की (मूलम्) जड़ है, (सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भव) पुण्य रूपी समुद्र के सोखने के लिए अगस्त्य मुनि है, (क्रोधाग्नेः) क्रोध रूपी अग्नि को बढ़ाने के लिये (अरणिः) लकड़ी है, (प्रतापतरणिप्रच्छादने) प्रताप रूपी

---

१ बादल। २ अगस्त्यमुनि। ३ वृक्ष। ४ चन्द्रमा।

सूर्य को आच्छादन करने के लिये (तोयदः) बादल है, (कलेः) कलह के (क्रीडासद्म) क्रीडा करने का स्थान है, (विवेकशशिनः) विवेक रूपी चन्द्रमा के लिए। (स्वर्भानुः) राहु है, (आपन्नदीसिन्धुः) विपत्ति रूपी नदियों के आकार मिलने के लिए समुद्र है और (कीर्त्तिलताकलापकलभः) कीर्ति रूपी लताओं के समूह को उखाड़ने के लिए हाथी का बच्चा है, (लोभः) ऐसा लोभ (पराभूयताम्) तिरस्कार करने योग्य है। अर्थात् उसे छोड़ देना चाहिये।



वसन्ततिलका।

निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे
दुःखौघभस्मनि विसर्पदकीर्तिधूमे।
बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः ॥५९॥

छप्पय।

परम धरम वन दहै, दुरित अंबर गति धारहि।
कुयश धूम उदगरै, भूरि भय भस्म विथारहि॥
दुख फुलिंग फुंकरै, तरल तृष्णा कल काढ़हि।
धनईंधन आगम सँजोग, दिन दिन अति बाढ़हि॥
लहलहै लोभ पावक प्रबल, पवन मोह उद्धत बहै।
दज्झहि उदारता आदि बहु, गुण पतंग 'कँवरा' कहै॥५९॥

अन्वयार्थौ—(निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे) जो समस्त धर्म रूपी वन को जलाती हुई बढ़ती है, (दुःखौघभस्मनि) अनेक दुःखों का समूह ही जिसकी भस्म है, (विसर्पदकीर्त्तिधूमे) जिसका अपयश रूपी

धूआं चारों ओर फैलता है और जो (समुद्धयनेन्धनसमागमदीप्यमाने) यथेष्ट धन रूपी ईंधन के मिलने से देदीप्यमान होता है, ऐसी (लोभानले) लोभ रूपी अग्नि में (गुणौघ) गुणों के समूह (शलभताम् लभते) पतंगे हो जाते हैं। अर्थात् जिस तरह अग्नि में गिरकर पतंगे जल जाते हैं, उसी तरह लोभ में पड़कर सारे गुण नष्ट हो जाते हैं।

शार्दूलविक्रीडित।

जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा गृहं
 चिन्तारत्नमुपस्थितं करतले प्राप्तो निधिः सन्निधिम्।
विश्वं वश्यमवश्यमेव सुलभा स्वर्गापवर्गश्रियो
 ये संतोषमशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं बिभ्रते ॥ ६० ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

विलसै कामधेनु ताके घर, पूरै कल्पवृक्ष सुखपोष।
अखय भँडार भरै चिंतामणि, तिनको सुलभ सुरग औ मोष॥
ते नर स्ववश करैं त्रिभुवनको तिनसौं विमुख रहै दुख दोष।
सबै निधान सदा तिनके ढिग, जिनके हृदय बसत संतोष॥६०॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो पुरुष (अशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदम्) समस्त दोषों को ध्वंस करने के लिये बादलों के समान (सन्तोषम्) संतोष को (बिभ्रते) धारण करते हैं, (तेषाम्) उनके (पुरः) सम्मुख ही (कल्पतरुः) कल्पवृक्ष (जातः) उत्पन्न होता है (सुरगवी) कामधेनु (तेषाम् गृहम् प्रविष्टा) उनके घर प्रवेश करती है, (चिन्तारत्नम्) चिंतामणि रत्न (करतले उपस्थितम्) उनकी हथेली पर आ उपस्थित

होता है, (निधिः) निधि (सन्निधिम् प्राप्तः) उनके सन्निकट ही आ जाती है, (स्वर्गापवर्गश्रिय.) स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी (सुलभाः) सहज ही प्राप्त हो जाती है और (विश्वम्) ससार (अवश्यम् एव वश्यम्) अवश्य ही उनके वश हो जाता है।

सज्जनाधिकार।

शिखरिणी।

वरं क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे
वरं झम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः।
वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो
न जन्यं दौर्जन्य तदपि विपदां सद्म विदुषा ॥६१॥

चौपाई (१६ मात्रा)।

वरु अहिवदन हत्थ निज डारहिं। अगनिकुण्डमैं तन परजारहिं।
दारहिं उदर करहि विष भच्छन। पै दुष्टता न गहहिं विचच्छन ६१

अन्वयार्थौ—(कुपितफणिनः) क्रोधित हुए सर्प के (वक्त्रकुहरे) मुख में (पाणिः क्षिप्तः वरम्) हाथ डालना अच्छा है, (ज्वलदनलकुण्डे) जलते हुए अग्नि कुण्डों में (विरचित. झम्पापातः वरम्) पड़जाना अच्छा है और (जठरान्तः सपदि विनिहित. प्रासप्रान्तः वरम्) शीघ्र ही विष खा लेना अच्छा है, (तदपि) परन्तु (विदुषा) विद्वानो को (विपदाम्) आपत्तियों का (सद्म) घर (दौर्जन्यम्) दौर्जन्य (न जन्यम्) करना अच्छा नहीं है। अर्थात् दुर्जनता नहीं करनी चाहिये।

वसन्ततिलका।

सौजन्यमेव विदधाति यशश्चय च
स्वश्रेयसं च विभव च भवक्षय च।
दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते तदर्थम्
धान्येऽनलं क्षिपसि तज्जलसेकसाध्ये ॥६२॥

मत्तगयन्द (सवैया)

ज्यौं कृषिकार भयो चित आतुल, सो कृषि की करनी इम ठानै।
बीज बवै न करै जल सिंचन, पावकसौं फल को थल मानै॥
त्यौं कुमती निज स्वारथ के हित, दुर्जनभाव हिये महँ आनै।
संपति कारन बंध विदारन, सज्जनता सुखमूल न जानै॥६२॥

अन्वयार्थौ—(हे कुमते) अरे अज्ञानी (सौजन्यम् एव) सुजनता ही (यशश्चयम्) यश का सम्पादन (च) और (स्वश्रेयसम्) आत्मकल्याण (च) तथा (विभवम्) विभूति (च) और (भवक्षयम्) जन्म मरण रूप संसार का नाश (विदधाति) करती है। (यत्) यदि तू (तदर्थम्) यश कल्याण विभूति आदि के लिये (दौर्जन्यम्) दुर्जनता (आवहसि) धारण करेगा, (तत्) तो समझना चाहिये कि तू (जलसेकसाध्ये) जल से सींचने योग्य (धान्ये) धानों में (अनलम्) अग्नि (क्षिपसि) डालता है।

पृथ्वी।

६२ विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः।

[२]कृशत्वमपि शोभते [१]सहजमायतौ [३]सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता ॥६३॥

अमानक छन्द :

वर दरिद्रता होय, करत सज्जन कला।
दुराचारसौं मिलै, राज सो नहिं भला ॥
ज्यों शरीर कृश सहज, सुशोभा देत है।
सूज थूलता बढै, मरनको हेत है ॥६३॥

अन्वयार्थौ—(सुजनभावभाजाम्) सुजनता को धारण करने वाले अर्थात् सज्जन (नृणाम्) मनुष्यों को (विभवबन्ध्यता) दरिद्र रहना (वरम्) अच्छा है (पुनः) परन्तु (असाधुचरितार्जिताः) दुर्जनता से कमाया हुआ (ऊर्जिताः) बहुत (सम्पदः) धन होना (न) अच्छा नहीं है। (आयतौ) दीर्घ शरीर में (सहजम्) स्वाभाविक (कृशत्व अपि) दुबलापन तो (सुन्दर) सुन्दर मालूम होता है (तु) परन्तु (विपाकविरसा) जिसका फल बुरा है, ऐसी (श्वयथुसम्भवा) सूजन से होने वाली (स्थूलता) स्थूलता (न शोभते) शोभायमान नहीं होती।

भावार्थ—दरिद्र रहना अच्छा है, पर दुर्जनता से बहुत सा धन कमा कर धनाढ्य होना अच्छा नहीं। जैसे कि, दुबला रहना अच्छा, परन्तु सूजन से मोटा हो जाना अच्छा नहीं।

शार्दूलविक्रीडित :

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं
संतोषं वहते परर्द्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम्।

स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नय नौचित्यमुल्लङ्घय
त्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ॥६४॥

षट्पद

नहिं जपैं परदोष, अल्प परगुण बहु मानहिं।
हन्य धरैं सतोष, दीन लखि करुणा ठानहिं॥
उचित रीत आदरहिं, विमल नय नीति न छंडहिं।
निज सराहना हरहिं, राम रचि विषय विहंडहिं॥
मंडहि न कोप दुरवचन सुन, सहज मधुर धुनि उचरहिं॥
कहि कँवरपाल जग जाल बसि, ये चरित्र सज्जन करहिं॥६४॥

अन्वयार्थौ—(परदूषणम् न ब्रूते) दूसरों के दोष प्रगट नहीं करते, (अल्पम् अपि परगुणम् अन्वहम् वक्ति) दूसरों के थोड़े से गुणों को भी रात दिन कहते हैं, (परर्द्धिषु सन्तोषम् वहते) दूसरों की ऋद्धि की वृद्धि देखकर सन्तोष धारण करते हैं, (परबाधासु शुचम् धत्ते) दूसरों के दुःख में दुःखी होते हैं, (स्वश्लाघाम् न करोति) अपनी प्रशंसा नहीं करते, (नयम् न उज्झति) नीति नहीं छोड़ते (औचित्यम् न लङ्घयति) औचित्य का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् उचित कार्य ही करते हैं, (अप्रियम् उक्त अपि अक्षमाम् न रचयति) और कोई गाली गलौज आदि दुष्ट वचन कहे, तो भी क्रोधित नहीं होते, (एतत्) ये सब (सताम्) सज्जनों के (चरित्रम्) चरित्र हैं। अर्थात् जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे उक्त कार्य करते हैं।

गुणिसङ्गाधिकार।

धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः पुमा
न्काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदमैः शून्योऽल्पमेधाः श्रुतम्।

वस्त्वालोकमलोचनश्चलमना ध्यानं च वाञ्छत्यसौ
यः सङ्गं गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकाङ्क्षति ॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

सो करुणाविन धर्म विचारत, नैन बिना लखिवेको उमाहै।
सो दुरनीति धरै यश हेतु [२]सुधी विन आगमको अवगाहै॥
सो हियशून्य कवित्त करै, समता विन सो तपसौं तन दाहै।
सो थिरता विन ध्यान धरै शठ, जो सतसंग तजै हित चाहै ६५

अन्वयार्थौ—(यः) जो (विमतिः) मूर्ख पुरुष (गुणिनाम्) गुणवान पुरुषों का (सङ्गम्) साथ (विमुच्य) छोड़कर (कल्याणम आकाङ्क्षति) अपना कल्याण करना चाहता है, (असौ अस्तदय पुमान धर्मम् वाञ्छति) वह पुरुष बिना दया किये धर्म करना चाहता है (च्युतनयः यशः वाञ्छति) नीति के बिना ही यश फैलाना चाहता है, (प्रमत्त. वित्तम् वाञ्छति) आलसी होकर धन कमाना चाहता है, (निष्प्रतिभः काव्यम् वाञ्छति) बिना प्रतिभा के कविता करना चाहता है, (शमदमैःशून्यः तपः वाञ्छति) इन्द्रियदमन और शान्तता के बिना ही तप करना चाहता है, (अल्पमेधः श्रुतम् वाञ्छति) थोड़ी सी बुद्धि के द्वारा ही शास्त्र का पारगामी होना चाहता है, (अलोचनः वस्त्वालोकम् वाञ्छति) नेत्रों के बिना ही वस्तुओं को देखना चाहता है, (च) और (चलमना. ध्यानम् वाञ्छति) चंचलचित्त होकर ध्यान करने की इच्छा करता है।

भावार्थ—जैसे दया आदि के बिना धर्मादि नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार सज्जनों की संगति के बिना कल्याण नहीं हो सकता है।

हरिणी।

हरति कुमतिं भिन्ते मोहं करोति विवेकितां
वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति विनीतताम्।
प्रथयति यशो धत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं
जनयति नृणां किं नाभीष्टं गुणोत्तमसङ्गमः॥ ६६॥

घनाक्षरी।

कुमति निकंद होय महा मोह मंद होय,
जगमगै सुयश विवेक जगै हियेसौं।
नीतिको दिढाव होय विनैको बढाव होय,
उपजै उछाह ज्यों प्रधान पद लियेसौं॥
धर्मको प्रकाश होय दुर्गतिको नाश होय,
बरतै समाधि ज्यों पियूष रस पियेसौं॥
तोष परिपूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिं सतसंगतिके कियेसौं॥ ६६॥

अन्वयार्थौ—(गुणोत्तमसङ्गम) गुणवान् पुरुषों की संगति (कुमतिम् हरति) कुबुद्धिका नाश करती है, (मोहम् भिन्ते) मोह को छिन्न भिन्न कर डालती है, (विवेकिताम् करोति) विवेकी बना देती है, (रतिम् वितरति) उत्साह बढाती है, (नीतिम् सूते) नीति को उत्पन्न करती है, (विनीतताम् तनोति) नम्रता वा विनयशीलता बढाती है, (यश प्रथयति) कीर्ति फैलाती है, (धर्म्मम् धत्ते) धर्म सेवन करती है, (दुर्गतिम् व्यपोहति) नरकादिक दुर्गतियों को नष्ट कर देती है और (नृणाम् किम् अभीष्टम् न जनयति) तथा मनुष्यों को कौन कौन से इच्छित पदार्थों को नहीं देती ? सभी देती है।

भावार्थ—गुणवान् पुरुषों की संगति करने से सारी इच्छाएं पूर्ण हो सकती हैं।

शार्दूलविक्रीडित।

लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि
प्राप्तुं कीर्तिमसाधुतां विधुवितुं धर्मं समासेवितुम्।
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्गश्रियं
चेत्त्वं चित्त समीहसे गुणवतां सङ्गं तदङ्गीकुरु ॥६७॥

कुण्डलिया।

'कौरा' ते मारग गहैं, जे गुणिजन सेवंत
ज्ञानकला तिनके जगै, ते पावहिं भव अंत ॥
ते पावहिं भव अंत, शांतरस ते चित धारहिं।
ते अघ आपद हरहिं, धरमकीरति विस्तारहिं।
होहिं सहज ते पुरुष, गुनी वारिजके भौंरा।
ते सुर संपति लहैं, गहैं ते मारग 'कौरा' ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौं—(हे चित्त) हे अन्तःकरण, यदि (त्वम्) तू (बुद्धि-कलापम् लब्धुम्) नाना प्रकार की बुद्धि प्राप्त करने के लिए, (आपदम् अपाकर्त्तुम्) विपत्तियो को दूर करने के लिए,(पथि विहर्त्तुम्) श्रेष्ठ मार्ग में यथेष्ट विहार करने के लिए, (कीर्तिम् प्राप्तुम्) यश फैलाने के लिये, (असाधुताम् विधुवितुम्) दुष्टता को दूर करने के लिये, (धर्मम समासेवितुम्) धर्म सेवन करने के लिये (पापविपाकम् रोद्धुम्) पापों के फल दुःखादिकों के रोकने के लिये और (स्वर्गापवर्गश्रियम् आकलयितुम्) स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी को बुलाने के लिये (गुणवताम्) गुणवानं

पुरुषों का (सङ्गम्) साथ (समीहसे चेत्) चाहता है तो (तत्) उसे अर्थात् गुणीजनों की संगति को (अङ्गीकुरु) स्वीकार कर ।

हारिणी ।

हिमति महिमाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्बुदे
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति ।
समिधति कुमत्यग्नौ कन्दत्यनीतिलतासु यः
किमभिलषतां श्रेयः श्रेयान्स निर्गुणिसङ्गमः ॥ ६८ ॥

षट्पद ।

जो महिमा गुन हनहि, तुहिन जिम वारिज वारहि ।
जो प्रताप सहरहि, पवन जिम मेघ विदारहि ॥
जो शम दम दलमलहि, द्विरद जिम उपवन खण्डहि ।
जो सुक्षेम क्षय करहि, वज्र जिम शिखर विहंडहि ॥
जो कुमति अग्नि ईं धनसरिस, कुनयलता दृढ मूल जग ।
सो दुष्टसंग दुख पुष्ट कर, तजहिं विचक्षण तासु मग ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ—(य) जो (महिमाम्भोजे हिमति) महिमा रूपी कमल के नाश करने के लिए हिम के समान है, (उदयाम्बुदेचण्डानिलति) भाग्योदय रूपी मेघ के उड़ाने के लिए तीव्र वायु के समान है, (दयारामे द्विरदति) दया रूपी बाग उखाड़ने के लिये हाथी के समान है, (क्षेमक्षमाभृति वज्रति) कल्याण रूपी पर्वत के लिये वज्र के समान है, (कुमत्यग्नौ समिधति) कुबुद्धि रूपी अग्नि के प्रज्वलित करने के लिये लकड़ी के समान है और (अनीतिलतासु कन्दति) अन्याय रूपी लताओं के दृढ करने के लिए जड़ (मूल) के समान है, (स निर्गुणिसङ्गम) वह निर्गुण

मनुष्यों का साथ (श्रेय अभिलपताम्) अपना कल्याण चाहने वाले पुरुषों को (किम् श्रेयान) क्या कल्याणकारी हो सकता है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—निर्गुण पुरुषों की संगति से कभी किसी तरह का भी कल्याण नहीं हो सकता है ।

इन्द्रियाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते
कृत्याकृत्यविवेकजीवितहर्ता यः कृष्णसर्पायते ।
खण्ड यः पुण्यद्रुम खण्डनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते
तं लुप्तव्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव ॥ ६९ ॥

हरिगीतिका ।

जे जगत जनको कुपथ डारहिं, वक्र शिक्षित तुरगसे ।
जे हरहिं परम विवेक जीवन, काल-दारुण उरगसे ॥
जे पुण्यवृक्षकुठार तीखन, लुप्त व्रतमुद्रा करैं ।
ते करन सुभट प्रहार भविजन, तब सुमारग पग धरैं ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् (यः) जो इन्द्रियों का समूह (आत्मानम्) आत्मा को (कुपथेन) कुमार्ग में (निर्गमयितुम्) ले जाने के लिये (शूकलाश्वायते) अशिक्षित घोड़े के समान है, (यः) तथा जो (कृत्याकृत्यविवेकजीवितहर्ता) कृत्य और अकृत्य ज्ञान रूपी जीवन के नाश करने के लिये (कृष्णसर्पायते) काले सर्प के समान है, (यः) और जो (पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ) पुण्य रूपी वृक्ष के काटने के लिये (स्फूर्जत्कुठारायते) तीक्ष्ण कुठार के समान है, (तम्) उस

(लुप्तव्रतम्) चारित्र को लुप्त करनेवाले (उद्दम) वेगशाली (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रियों के समूह को (जित्वा) जीत कर (शुभयु भव) मोक्षगामी हो।

शिखरिणी।

प्रतिष्ठा यन्निष्ठा नयति नयनिष्ठां विघटय-
त्यकृत्येष्वाधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते।
विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं
पदं तद्दोषाणां करणनिकुरम्बं कुरु वशे ॥ ७० ॥

मनहरण

ये ही हैं कुगतिके निदानी दुखदोषदानी,
इनहीकी संगतिमों संग-भार बहिये।
इनकी मगनतासौं विभौको विनाश होय,
इनहीकी प्रीतसौं अनीत पथ गहिये॥
ये ही तपभावकों विडारैं दुराचार धारैं,
इनहीकी तपत विवेक भूमि दहिये।
ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये॥ ७०।

अन्वयार्थौ—('यत्') जो (प्रतिष्ठाम् निष्ठाम् नयति) सारी प्रतिष्ठा को ले लेता है, (नयनिष्ठाम्) न्यायपरायणताको (विघटयति) नष्ट करता है, (अकृत्येषु) कुकार्यों में (मतिम्) बुद्धि (आधत्ते) लगाता है, (अतपसि) असंयम में (प्रेम) प्रेम (तनुते) बढ़ाता है (विवेकस्योत्सेकम्) ज्ञान के उत्साह को (विदलयति) दलन करता है, (च) और (विपदम्) विपत्तियों को (दत्ते) देता है, (तत्) उस

(दोषाणाम् पदम्) अनेक दोषों के स्थान (करणनिकुरम्बम्) इन्द्रियों के समूह को हे भाई, तू (वशे) वश में (कुरु) कर।

शार्दूलविक्रीडित।

धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
मस्त्वन्तर्गणमागमश्रममुपादत्तां तपस्तप्यताम्।
श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं न चेदिन्द्रिय-
व्रातं जेतुमवैति भस्मनि हुतं जानीत सर्वं ततः ॥७१॥

मौनके धरैया गृहत्यागके करैया विधि,
रीतके सधैया परनिन्दासौं अपूठे हैं।
विद्याके अभ्यासी गिरकंदराके वासी शुचि,
अंगके अचारी हितकारी वैन छूटे हैं॥
आगम के पाठी मन लाय महा काठी भारी,
कष्टके सहनहार रामाहूसौं रूठे हैं॥
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रिनके जीते बिना सरवंग झूठे हैं॥७१॥

अन्वयार्थौ—(मौनम् धत्ताम्) भले ही मौन धारण करो, (अगारम् उज्झतु) गृह का त्याग करो (विधिप्रागल्भ्यम् अभ्यस्यताम्) विधिविधान में चतुराई का अभ्यास करो, (अन्तर्गणम् अस्तु) किसी भी गच्छादिक में निवास करो, (आगमश्रमम् उपादत्ताम्) आगम पढ़ने में परिश्रम करो, (तपः तप्यताम्) तप करो,परन्तु यदि (श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातम् इन्द्रियव्रातम्) कल्याण रूपी निकुञ्जों को उखाड़ देने में तीव्र पवन के समान इन्द्रियों के समूह को (जेतुम् न अवैति चेत) जीतना नहीं

जानते हो, (तत) तो (सर्वम् भस्मनि हुतम् जानीत) वह सब भस्म में होम देने के समान है।

भावार्थ--यदि इन्द्रियों पर विजय नहीं किया है, तो मौन धारण एवं त्याग आदि सब क्रियाएँ वृथा हैं।

धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसावारीणमापत्प्रथा-
लङ्कर्मीणमशर्मनिर्मितकलापारीणमेकान्ततः ।
सर्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यन्तीनमिष्टं यथा-
कामीनं कुपथाध्वनीनमजयन्नक्षौघमक्षेमभाक् ॥[1] २॥

धर्मतरुभजनको महा मत्त कुंजरसे,
आपदा भण्डारके भरनको करोरी हैं ।
सत्यशील रोकवेको प्रौढ परदार जैसे,
दुर्गतिके मारग चलायवे कों धोरी हैं ॥
कुमतिके अधिकारी कुनैपथके विहारी,
भद्रभाव ईन्धन जरायवेकों होरी हैं ।
मृषाके सहाई दुरभावनाके भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघके अघोरी हैं ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थौ--(धर्मध्वंसधुरीणम्) धर्म के नाश करने में प्रधानभूत, (अभ्रमरसावारीणम्) सत्यज्ञान को आच्छादन करने वाले, (आपत्प्रथाल कर्मीणम्) आपत्तियों के विस्तार करने में समर्थ, (अशर्मनिर्मितिकलापारी णम्) दुःखों के उत्पन्न करने में चतुर, (एकान्ततः सर्वान्नीनम्) सर्वथा समस्त अन्न को भक्षण करने वाले, (अनात्मनीनम्) आत्मा का अहित करने वाले, (अनयात्यन्तीनम्) खोटी नीति में अधिक प्रीति रखने वाले,

1 कुमतेत्यपि पाठ ।

(इष्टे यथाकामीनम्) अपने इष्ट पदार्थों में स्वेच्छापूर्वक रहने वाले, और (कुपथाध्वनीनम्) खोटे मार्ग में चलने वाले (अक्षौघम्) इन्द्रियों के समूह को (अजयन) जो पुरुष विजय नहीं करता है (अक्षेमभाक्) वह कल्याण का भाजन नहीं हो सकता है।

भावार्थ—जो पुरुष इन्द्रियों को वश नहीं करता है, उसका कल्याण नहीं होता।



कमलाधिकार।

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तेऽन्धताम्।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय-
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ॥ ७३ ।

मत्तगयन्द।

नीचकी ओर ढरै सरिता जिम, घूम बढावत नींदकी नांई।
चचलता प्रगटै चपला जिम, अन्ध करै जिम धूमकी झांई ॥
तेज करै तिसना दव ज्यौं, मद ज्यौं पोषित मूढ़के ताई।
ये करतूति करै कमला जग, डोलत ज्यौं कुलटा विन सांई ॥

अन्वयार्थौ—(कमला) यह लक्ष्मी (निम्नगा इव) नदी के समान (नितराम्) निरन्तर (निम्नम् गच्छति) नीच की ओर ही अर्थात् नीच पुरुषों के समीप ही जाती है, (निद्रा इव) निद्रा के समान (चैतन्यम् विष्कम्भते) चेतना को लुप्त कर देती है, (मदिरा इव) शराब के समान (मदम् पुष्यति) मद बढ़ाती है (धूम्या इव) सघन धूमके

समान (अन्धताम् धत्ते) अन्धा करती है, (चपला इव) बिजली के समान (चापल्यम् चुम्बति) चचलता प्राप्त करती है, (दवज्वाला इव) दावानल अग्नि के समान (तृष्णाम् उल्लासम् नयति) तृष्णा बढ़ाती है और (कुलटाङ्गना इव) वेश्या स्त्री के समान (स्वैरम् परिभ्राम्यति) स्वतत्रता पूर्वक चारों ओर फिरती है।



दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भ प्लावयते क्षितौ विनिहित यक्षा हरन्ते हठा-
द्दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधन धिग्बह्वधीन धनम् ॥७४॥

बधु विरोध करैं निशवासर, दडनकौ [1]नरवै छल जोवै ।
पावन दाहत नीर बहावत, ह्वै दृगओट [2]निशाचर ढोवै ॥
भूतलरक्षित जक्ष हरैं, करकै दुरवृत्ति कुमतति खोवै ।
ये उतपात उठैं धनके ढिग, दामधनी कहु क्यों सुख सोवै ॥७४॥

अन्वयार्थौ—(दायादा स्पृहयन्ति) भाई बधु आदिक कुटुम्बीजन इसके लेने की इच्छा करते हैं, (तस्करगणा मुष्णन्ति) चोर इसको चुरा ले जाते हैं, (छलम् आकलय्य भूमीभुज गृह्णन्ति) किसी बहाने से राजा लोग छुड़ा लेते हैं (हुतभुक् क्षणात भस्मीकरोति) अग्नि क्षणभर में जला देती है (अम्भ प्लावयते) पानी इसको बहा ले जाता है, (क्षितौ विनिहितम् यक्षा हठाम् हरन्ते) पृथिवी में गड़े हुए धन को

---

१ राजा। २ चोर।

यक्ष देवता बलात्कार हर लेते है और (दुर्वृत्ताः तनयाः निधनम् नयन्ति) दुराचारी पुत्र नष्ट कर डालते है, इसलिये (बह्वधीनम् धनम् धिक्) अनेक पुरुषों के आधीन रहने वाले इस धन को धिक्कार है।



नीचस्यापि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति नीचैर्नतिं
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्तनम् ।
निर्वेदं न विदन्ति किञ्चिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे
कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः ॥

मनहरण ।

नीच धनवन्त ताहि निरख असीस देय,
वह न विलोकै यह चरन गहत है ।
वह अकृतज्ञ नर यह अज्ञता को घर,
वह मद लीन यह दीनता कहत है ।
वह चित्त कोप ठानै यह वाको प्रभु मानै,
वाके कुवचन सब यह पै सहत है ।
ऐसी गति धारै न विचारै कछु गुण दोष,
अरथाभिलाषी जीव अरथ चहत है ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थौ—(नीचस्य अपि चिरम् चटूनि रचयन्ति) नीच पुरुषों की भी चिरकाल तक खुशामद करते रहते हैं, (शत्रोः अपि नीचैः नतिम् आयान्ति) शत्रु को भी सादर नमस्कार करते हैं, (अगुणात्मनः अपि उच्चैः गुणोत्कीर्त्तनम् विदधति) निर्गुणी मनुष्यों के भी खूब गुण वर्णन करते रहते हैं, (अकृतस्य अपि सेवाक्रमे किञ्चित् निर्वेदम् न विदन्ति) और कृतघ्न मनुष्य की सेवा करने में भी विरक्त नहीं होते हैं, इस तरह

(मनस्विन अपि वित्तार्थिनः मनुजा किम् न कुर्वन्ति) मनस्वी पुरुष भी धन के लिये क्या क्या नहीं करते हैं ? सब कुछ करते हैं। ('अहो' कष्टम्) यह बड़े दुःख का विषय है।

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयः सङ्गादिवाम्भोजिनी–
संसर्गादिव कण्टकाकुलपदा न क्वापि धत्ते पदम्।
चैतन्यं विषसन्निधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्यं तदस्याः फलम् ॥७६॥

नीचहीकी ओरको उमंग चलै कमला सो
पिता सिन्धु सलिलस्वभाव याहि दियो है।
रहै न सुथिर ह्वै सकन्क चरन याको,
बसी कनमाहिं फज कैसो पद कियो है।
जाको मिले हितसौं अचेत कर डारै ताहि,
विषको बहिन तातें विष कैसी हियो है
ऐसी ठगहारी जिन धरमके पथ डारी,
करके सुकृत तिन याको फल लियो है ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थौ—(लक्ष्मी) यह लक्ष्मी (अर्णवपयःसङ्गात् इव) मानो समुद्र के जल के सम्बन्ध से ही (नीचम् सर्पति) नीच की ओर गमन करती है, (अम्भोजिनीसंसर्गात् इव) मानो कमलिनि के संसर्ग से ही (कण्टकाकुलपदा) पैरों में काँटे चुभने की तकलीफ से आकुलित होती हुई (क्वापि पदम् न धत्ते) कहीं भी स्थित चरण नहीं रखती है और (विषसन्निधे इव) विष के सन्निकट रही है इस लिये मानो (नृणाम्) मनुष्यों की (चैतन्यम्) चैतन्य शक्ति को (अञ्जसा) शीघ्र ही (उज्जासयति)

अचेत कर डालती है। (तत्) इसलिये (गुणिभिः) गुणवान् मनुष्यों को (धर्मस्थाननियोजनेन) धर्म कार्यों में खर्च कर देने से ही (अस्याः) इस लक्ष्मी का (फलम्) फल (ग्राह्यम्) ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—यह लक्ष्मी समुद्र से उत्पन्न हुई है, इस लिसे जल के समान नीच की ओर ही जाती है, तथा कमल में रहती है इस लिये पैरों में कांटे चुभ जाने से कहीं स्थिर नहीं रहती और विष की बहिन है, इस लिये मनुष्यों को अचेतन कर देती है, अतएव इसको धर्मकार्यों में लगाकर ही इसके पाने का फल प्राप्त करना चाहिये।

दानाधिकार।

चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम्।
पुण्यं कन्दलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा-
न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रे धनम् ॥७७॥

सवैया (३१ मात्रा)।

चरन अखण्ड ज्ञान अति उज्जल, विनय विवेक प्रशम अमलान।
अनघ सुभाव सुकृति गुन संचय, उच्च अमरपद बन्ध विधान॥
आगम गम्य रम्य तपकी रुचि, उद्धत मुकतिपथसोपान।
ये गुण प्रकट होंय तिनके घट, जे नर देहिं सुपत्तहिं दान॥ ७७॥

अन्वयार्थौ—(पवित्रे पात्रे निहितम् धनम्) पवित्र सत्पात्र को दिया हुआ धन (चारित्रम् चिनुते) चारित्र बढ़ाता है, (विनयम् तनोति) विनय बढ़ाता है, (ज्ञानम उन्नतिं नयति) ज्ञान की वृद्धि करता है, (प्रशमम् पुष्णाति) शान्तता को पुष्ट करता है,

(तप प्रचलयति) तप को प्रबल करता है, (आगमम् उल्लासयति) शास्त्र को उल्लसियत करता है—शास्त्र ज्ञान को बढाता है, (पुण्यम् कन्दलयति) पुण्य की जड़ जमाता है, (अघम् दलयति) पापों का नाश करता है (स्वर्गम् ददाति) स्वर्ग को देता है और (क्रमात्) क्रमक्रम से (निर्वाणश्रियम् आतनोति) मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर देता है।



दारिद्र्यं न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते
नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति।
दैन्यं नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिश्नन्ति नैवापदः
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दानं निदानं श्रियाम् ॥७८॥

षट्पद।

सो दरिद्र दलमलहिं, ताहि दुर्भाग न गजहिं।
सो न लहै अपमान, सु तो विपदाभय भजहिं॥
तिहिं न कोई दुख देहिं, तासु तन व्याधि न बड्ढइ,
ताहि कुयश परहिं, सुमुख दीनता न कड्ढइ॥
सो लहहि उचरद्जगतमहँ, अघ अनरथ नासहिं सरव।
कहँ 'कुँवरपाल' सो धन्य नर, जो सुखेत बोवे न दरव ७८

अन्वयार्थो—(य) जो मनुष्य (पात्रे) पात्र के लिये (श्रियाम् निदानम्) लक्ष्मी बढाने का कारण और (अनर्थदलनम्) अनर्थों को दलन करने वाला (दानम् वितरति) दान देता है, (तम्) उसको (दारिद्र्यम् न ईक्षते) दरिद्रता कभी नहीं देखती, (दौर्भाग्यम् न भजते) दुर्भाग्यता कभी उसकी सेवा नहीं करती, (अकीर्ति न आलम्बते) अपकीर्ति उसका आलम्बन नहीं लेती, (पराभव न अभिलषते) तिरस्कार

उसको नहीं चाहता (व्याधिः न आस्कन्दति) आदि व्याधि कभी उसके समीप नहीं आती, (दैन्यम् न आद्रियते) दीनता भी उसका आदर नहीं करती, (दरः न दुनोति) भय क्षोभ पैदा नहीं करता और (आपदःनेव क्लिश्यन्ति) विपत्तियां उसको कभी क्लेश नहीं देती।

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकती
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिङ्गति ।
श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्थमर्थं निजम् ॥

मनहरण ।

ताहिको सुबुद्धि वरै रमा ताकी चाह करै,
चंदन सरूप ह्वो सुयश ताहि चरचै ।
सहज सुहाग पावै सुरग समीप आवै,
बार-बार मुकति रमनि ताहि अरचै ॥
ताहिके शरीरको अलिंगति अरोगताई,
मगल करै मिताई प्रीत करै परचै ।
जोई नर ह्वो सुचेत चित समता समेत,
धरमके हेतको सुखेत धन खरचै ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थौ—(यः पुमान) जो मनुष्य (निजम् अर्थम्) अपना धन (पुण्यार्थम्) पुण्य कार्यों के लिए (प्रयच्छति) अर्पण कर देता हैं, (तम्) उसको (लक्ष्मीः कामयते) लक्ष्मी चाहती है, (मतिःमृगयते) सुबुद्धि ढूढ़ती है, (कीर्त्तिःआलोकते) कीर्ति देखती है, (प्रीतिः चुम्बति) प्रीति उसका चुम्बन करती है, (सुभगता सेवते) सुन्दरता उसकी सेवा

करती है, (निरोगता आलिङ्गति) नीरोगता उसका आलिंगन करती है, (श्रेय संहतिः अभ्युपैति) कल्याणपरम्परा स्वय आकर मिलती है, (स्वर्गोपभोगर्थितं वृणुते) स्वर्ग के भोगोपभोग की सामग्री उसको स्वय स्वीकार करती है, तथा (मुक्तिः वाञ्छति) मुक्ति उसकी इच्छा करती है।

मन्दाक्रान्ता।

तरुणमन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता श्रीः
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्वऋद्धिः।
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसम्पत्
सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः॥ ८०॥

पद्मावती।

ताकी रति कीरति दासी सम, सहसा रानरिद्धि घर आवै।
सुमति सुता उपजै ताके घट, सो सुरलोक सम्पदा पावै॥
ताकी दृष्टि लखै शिव मारग, सो निरबन्ध भावना भावै।
जो नर त्याग कपट 'कुंवरा' कह, विधिसों सप्तखेत धन बावै॥८०॥

अन्वयार्थौ--(य) जो पुरुष (निजम् विपुलम् वित्तबीजम्) अपना बहुतसा धन रूपी बीज (सप्तक्षेत्र्याम् वपति) सातक्षेत्रों में बोता है अर्थात् चैत्य, चैत्यालय, श्रुतज्ञान, मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इनके उपकारार्थ खर्च करता है (रतिः तस्य आसन्ना) प्रीति उसके समीप रहती है, (कीर्तिः अनुचरी) कीर्ति उसकी दासी बनी रहती है, (श्री उत्कण्ठिता)

लक्ष्मी उसके लिए उत्कंठित रहती है, (बुद्धिः स्निग्धा) बुद्धि उससे स्नेह रखती है, (चक्रवर्त्तित्वऋद्धिः परिचयपरा) चक्रवर्त्ती की ऋद्धियां उससे सदा परिचय रखती है, (त्रिदिवकमला पाणौ प्राप्ता) स्वर्ग की लक्ष्मी उसके हाथ में रहती हैं, और (मुक्तिसम्पत् कामुकी) मुक्ति रूपी लक्ष्मी उससे रमण करने की इच्छा रखती है।

तपप्रभावाधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्।
यत्प्रत्यूहतमःसमूहदिवसं यल्लब्धिलक्ष्मीलता-
मूलं तद्द्विविधं यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः ॥८१॥

षट्पद।

जो पूरवकृत कर्म, पिंडगिरि दलन वज्रधर।
जो मनमथ-दव ज्वाल, माल संहरन मेघझर॥
जो प्रचण्ड इन्द्रिय भुजंग, थंमन सुमन्त्र वर।
जो विभाव सन्तम सुपुंज, खण्डन प्रभात कर॥
जो लब्धि वेल उपजंत घट, तासु मूल दृढ़ता सहित।
सो सुतप अंग बहुविध दुविध, करहिं विबुध वांछारहित॥ ८१॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो त पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशम्) पूर्व कालके संचय किये हुए कर्म रूपी पर्वत के लिए वज्र के समान है, (यत्) जो (कामदावानलज्वालाजालजलम्) कामदेव-रूपी दावानल की ज्वालाओ को शान्त करने के लिए जल है, (यत्)

यस्माद्विघ्नपरम्परा विघटते दास्य सुराः कुर्वते
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति ।
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वसं च यः कर्मणां
स्वाधीन त्रिदिव शिव च भवति श्लाघ्य तपस्तन्न किम् ॥

मनहरण ।

जाके आदरत महा रिद्धिसौं मिलाप हो,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिए ।
विघन विनास होय गीरवाण दास होय,
ज्ञानकौ प्रकास होय भौसमुद्र थाहिए ॥
देवपद खेल होय मगलसौ मेल होय
इन्द्रिनिकी जेल होय मोखपथ गाहिए ।
जाकी ऐसी महिमा प्रगट कहै 'कौंरपाल"
तिहुलोक तिहुँकाल सो तप सराहिए ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थौ--(यस्मात्) जिस तप से (विघ्नपरम्परा) विघ्नों की परम्परा नष्ट हो जाती है, (सुरा, दास्यम् कुर्वते) स्वर्ग निवासी देव सेवक हो जाते हैं, (काम शाम्यति) कामदेव शान्त होता है, (इन्द्रिय गण दाम्यति) निखिल इन्द्रियों का दमन हो जाता है, (कल्याणम् उत्सर्पति) कल्याण बढता रहता है, (महर्द्धय उन्मीलन्ति) बड़ी बड़ी ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, (च) और (यत्) जो कर्मों का विनाश करता है (च) तथा (त्रिदिवम् शिवम् स्वाधीन भवति) जिसके प्रताप से' स्वर्ग और मोक्ष स्वाधीन हो जाते हैं (तत् तप किम् न श्लाघ्यम्) ऐसा तप क्या प्रशंसा करने योग्य नहीं है । अवश्य है ।

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम् ।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं
कर्मौघं तपसा विना किमपरो हन्तुं समर्थस्तथा ॥ ८३ ॥

मत्तगयन्द ।

ज्यौं वर कानन दाहनकौं, दव-पावकमौं नहिं दूसरो दीसै ।
ज्यौं दवआग बुझै न ततच्छन, जो न अखण्डित मेघ बरीसै ॥
ज्यौं प्रगटै नहीं जौलग मारुत, तौलग घोर घटा नहीं खीसै ।
त्यौं घटमैं तपवज्र विना दृढ़, कर्मकुलाचल और न पीसै ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थो—(यथा) जैसे (कान्तारम्) वनको (ज्वलयितुम्) जलाने के लिये (दवाग्निम् विना) दावानल अग्निके विना (इतर. न दक्ष और कोई समर्थ नहीं हैं । ('यथा') जैसे (दावाग्निम्) दावानल को पूर्ण शान्त करने के लिये (अम्भोधरम् विना) विना मेघ के(अपर: न शक्त) अन्य कोई शक्तिमान नहीं है, और (यथा) जैसे (अम्भोधरम्) मेघ को (निरसितुम्) छिन्नभिन्न करने के लिये (पवनम् विना) वायु के बिना (अन्य: न निष्णातः) और कोई कुशल नहीं है (तथा) उसी प्रकार (कर्मौघम्) कर्म समूह को (हन्तुम्) नाश करने के लिये (विना तपसा) तप के विना (किम् अपरः समर्थः) क्या कोई अन्य समर्थ है ?

भावार्थ—कर्म तपसे ही नष्ट हो सकते हैं । उनके नष्ट करने के लिये और कोई उपाय नहीं ।

स्रग्धरा।

मन्तोपस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः शीलसम्पत्प्रवालः।
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद्विपुलकुलबलैश्वर्यसौन्दर्यभोग-
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवपदफलदः स्यात्तपःपादपोऽयम् ॥

षट्पद।

सुदृढ मूल सन्तोष, प्रशम गुन प्रबल पेड़ धुव।
पचाचार सु शाख, शील सम्पति प्रबाल हुव ॥
अभय भाग दलपुंज, देवपद पहुप सुमण्डित।
सुकृतभाव विस्तार, भार शिव सुफल अखण्डित ॥
परतीत धार जल सिंच क्रिय, अति उतंग दिन दिन पुषित।
जयवन्त जगत यह सुतपतरु, मुनि विहग सेवहिं सुखित ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थौ –(अयं तपः पादपः) यह तपरूपी वृक्ष (संतोषस्थूल मूलः) जिसमें कि सन्तोषरूपी मोटी जड़ है (प्रशमपरिकरस्कन्धबन्ध प्रपञ्च) प्रशम संवेगादिरूप पींडोंका फैलाव है, (पञ्चाक्षीरोधशाख) पाँचों इन्द्रियों का निरोध रूप शाखा समूह है, (स्फुरदभयदल) अभयादि अंगरूपी पत्ते लग रहे हैं, (शीलसम्पत्प्रवाल) और शीतल सम्पत्ति रूपी कोंपले हैं, (श्रद्धाम्भः पूरसेकात्) श्रद्धा रूपी जल के सींचने से (विपुल कुलैश्वर्यसौन्दर्यभोगस्वर्गादिप्राप्तिपुष्प) उच्चकुल, विपुल ऐश्वर्य उत्कृष्ट सौंदर्य, और नाना प्रकार के भोग युक्त स्वर्गादिरूप फूल फूलकर (शिवपद फलद) मोक्षपद रूप फल फलता है।

---

१ तप कल्प वृक्ष इत्यपि पाठः।

भावनाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभोः
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि ।
विष्वग्वर्षमिवोपरक्षितितले दानार्हदर्चातपः
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठांनं विना भावनाम् ॥

पद्मावती छन्द ।

ज्यौं नीराग पुरुषके सन्मुख, पुरकामिनि कटाच्छ कर ऊठी ।
ज्यौं धनत्यागरहित प्रभु सेवन, ऊसर मैं बरषा जिम छूटी ॥
ज्यौं शिलमाहिं कमल को बोवन, पवन पकर जिम बांधिए मूठी ।
ए करतूति होंय जिम निष्फल, त्यौं बिनभाव क्रिया सब झूठी ८५

अन्वयार्थौं—(नीरागे तरुणीकटाक्षितम् इव) जैसे विरागी पुरुष के सन्मुख तरुण स्त्रीके कटाक्ष निष्फल हैं, (त्यागव्यपेतप्रभो सेवाकष्टम् इव) जैसे प्रतिफलरूप धन न देने वाले स्वामी की सेवा करना कष्टमात्र है अर्थात् व्यर्थ है, (अम्भोजन्मनाम् अश्मनि उपरोपणम् इव) जैसे पाषाण में कमलों का बीज बोना व्यर्थ है, (ऊषरक्षितितले विष्वग्वर्षम् इव) और जैसे ऊसर भूमि में वर्षा होना व्यर्थ है, उसी तरह (भवानाम्बिना) शुभभावों के बिना अथवा अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं के चिन्तवन के बिना (दानार्हदर्चातपः स्वाध्यायाध्ययनादि अनुष्ठानम्) दान देना, अरहन्त की पूजा करना; तप करना, स्वाध्याय करना और अध्ययन आदिक अनुष्ठान करना निष्फल है ।

सर्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्त्यघं भित्सति
क्रोधं दित्सति दानशीलतपसां साफल्यमादित्सति ।
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवाम्भोधेस्तटं लिप्सते
मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद्भावयेद्भावनाम् ॥ ८६ ॥

घनाक्षरी ।

पूरव करम दहै सरवग्य पद लहै,
गहै पुन्यपथ फिर पाप में न आवना ।
करूनाकी कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दानशील तप सफल सुहावना ॥
पावै भवसिन्धु तट खोलै मोखद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा में करै धावना ।
एते सब काज करै अलखको अंग धरै,
चेरी चिदानन्दकी अकेली एक भावना ॥८६॥

अन्वयार्थौ--(यदि) यदि (जन) मनुष्य (भावनाम्) भावना को (भावयेत्) भावे अर्थात् आत्मचिन्तवन करे, तो वह (सर्वम् ज्ञीप्सति) सबको जानने वाला अर्थात् केवली होता है, (पुण्यम् ईप्सति) पुण्य उपार्जन करता है, (दयाम् धित्सति) दया का पालन करता है, (अघम् भित्सति) पापों को नष्ट करता है, (क्रोधम् दित्सति) क्रोध को दूर करता है, (दानशीलतपसाम् साफल्यम् आदित्सति) दानशील तपको सफल करता है, (कल्याणोपचयम् चिकीर्षति) निरन्तर कल्याणों की वृद्धि करता रहता है, (भवाम्भोधेः तटम् लिप्सते) संसार रूपी समुद्र के किनारे लग जाता है और (मुक्तिस्त्रीम् परिरिप्सते) मुक्ति रूपी स्त्री को आलिंगन करता है ।

पृथ्वी ।

विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीवनीं
भवार्णवमहातरीं मदनदाव मेघा वलीम् ।
चलाक्षमृगवागुरां गुरुकषायशैलाशनिं
विमुक्तिपथवेसरीं भजत भावनां किं परैः ॥ ८७ ॥

प्रशम के पोषवेकौं अम्रतकी धारासम,
ज्ञानवन सींचवेकौं नदी नीर भरी है ।
चंचल करन मृग बांधवेकौं वागुरासी,
कामदावानल नासवेकौ मेघझरी है ॥
प्रवल कषायगिरी भजवेकौ वज्र गदा,
भौ-समुद्र तारवेकौं पौढ़ी महा तरी है ।
मोखपथ गाहवेकौं [1]वेसरी विलायतकी,
ऐसी शुद्ध भावना अखंड धार ढरी है ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थौं—भो भव्य हो (विवेकवनसारिणीम्) विवेकरूपी वन के सिचन करने के लिये नदी के समान, (प्रशमशर्मसजीवनीम्) प्रशम सुखको जीवित रखने के लिये संजीवनी औषधि के समान, (भवार्णवमहातरीम्) संसार रूपी समुद्र के तिरने के लिये बड़ी नौका के समान, (मदनदावमेघावलीम्) कामदेवरूपी दावानल के शान्त करने के लिये मेघमण्डल के समान, (चलाक्षमृगवागुराम्) चंचल इन्द्रियरूपी हरिणों के बांधने के लिये जाल के समान, (गुरुकषायशैलाशनिम्) प्रबलकषायरूपी

१. अश्वतरी अर्थात् खचरी ।

पर्वत को नष्ट करने के लिये वज्र के समान और (विमुक्तिपथवेसरीम) मोक्ष के मार्ग में ले जाने के लिये नहीं थकने वाली खचरी के समान जो (भावनाम) आत्मा की भावना है, सो (भजत) चिन्तवन करनी चाहिये। (परैः किम्) अन्य से क्या प्रयोजन ?

शिखरिणी

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं
क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ॥ ८८ ॥

अमानक छन्द ।

गहु पुनीत अचार, जिनागम जोवना ।
कर तप संजम दान, भूमिका सोवना ॥
ए करनी सब निफल, होय बिन भावना ।
ज्यों तुष बोए हाथ, कछू नहिं आवना ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(धनम् वित्तम् दत्तम्) बहुत से धन का दान दिया (अखिलम् जिनवचनम् अभ्यस्तम्) निखिल जैनशास्त्रों का अभ्यास किया, (चण्डम् क्रियाकाण्डम् रचितम्) उग्र चारित्र धारण किया, (अवनौ असकृत् सुप्तम्) भूमि पर शयन किया, (तीव्रम् तपः तप्तम्) तीव्र तप किया, और (चिरतरम् चरणम् अपि चीर्णम्) चिर कालपर्यन्त उपशम भी धारण किया किन्तु (भावः चित्ते न चेत्) यदि हृदय

में भाव न हों अर्थात् ये कार्य आत्मचिन्तवन पूर्वक न किये हों, तो (तुषवपनवत्) धान के छिलके के बोने के समान (सर्वम् अफलम्) सब निष्फल हैं।



विरागाधिकार।

हारिणी।

यदशुभरजः पाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशं
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनःकपिशृङ्खला।
विरतिरमणीलीलावेश्मस्मरज्वरभेषजं
शिवपथरथस्तद्वैराग्यं विमृश्य भवाभयः॥ ८९ ॥

घनाक्षरी।

अशुभता धूर हरवेको नीर-पूर सम,
विमल विरति-कुलवधूको सुहाग है।
उदित मदन जुर नासवेकौं जुरांकुश,
अच्छगज थंभनकौ अकुशकौ दाग है॥
चंचल कुमन कपि रोकवेकौ लोहफन्द,
कुशल कुसुम उपजायवेकौं बाग है।
सूधो मोखमारग चलायवेकौं नामी रथ,
ऐसो हितकारी भयभंजन विराग है॥ ८९ ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो वैराग्य (अशुभरजःपाथः) अशुभरूपी धूलिको शान्त करने के लिये जल है, (दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशम्) उन्मत्त

इंद्रियरूपी हाथी को वश करने के लिये अंकुश है (कुशलकुसुमोद्यानम्) कल्याणरूपी पुष्पों के उत्पन्न होने के लिये उद्यान (बाग) है, (माद्यन्मन कपिश्रृङ्खला) मदोन्मत्त मन रूपी बन्दर के बांधने के लिये लोहे की सांकल है, (विरतिमणीलीलावेश्म्) विरति रूपी सुन्दर स्त्री के क्रीड़ा करने का भवन है, (स्मरज्वरभेषजम्) कामदेव रूपी ज्वर के दूर करने के लिये औषधि है, और (शिवपदरथ) मोक्ष में जाने के लिये रथ है, (तत् वैराग्यम्) ऐसे वैराग्य को (विमृश्य) चिन्तवन करके हे भव्यो, तुम (अभय भव) निडर होओ।

वसन्ततिलका।

चण्डानिल. स्फुरितमब्दचय दवार्चि-
वृक्षव्रज तिमिरमण्डलमर्कबिम्बम् ।
वज्र महीध्रनिवह नयते यथान्त
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समग्रम् ॥ ६० ॥

अमानक छन्द।

ज्यों समीर गंभीर, सघन घन छय करे।
वज्र विदारै शिखर, दिवाकर तम हरै ॥
ज्यों दव पावक पूर, दहै वनकुंजकों।
त्यों भजै वैराग, करम के पुंजकों ॥ ६० ॥

अन्वयार्थो—(यथा) जैसे (चण्डानिल) तीव्र पवन (स्फुरितम् अब्दचयम्) छाये हुए मेघ मंडल का (अन्त नयते) नाश करता है,

अन्वयार्थौ—(विरक्त पुमान) विरक्त मनुष्य (भोगान) संसार के भोगों को (कृष्णभुजङ्गभोगविषमान् विदित्वा काले सर्प के फण के समान विषम जानकर, (राज्यम्) राज्य को (रजः सन्निभम्) धूलि के समान जानकर, (बन्धून) भाई वगैरह कुटुम्बी जनों को (बन्धनिबन्धनानि) बंध के कारण जानकर, (विषयग्रामम्) इन्द्रियों के विषयों को (विषान्नोपमम्) विष मिले हुए अन्न के समान जानकर, (भूतिम्) हाथी घोड़े रथादिकी विभूतिको (भूतिसहोदराम्) भस्मकी बहिन जानकर और (स्त्रैणम्) स्त्री सुखको (तृणतुलम् विदित्वा) तृण के समान जान कर (तेषु) उनमें अर्थात् भोगोपभोग राज्य बन्धु विषय विभूति और स्त्री में (आसक्तिम् त्यजन) आसक्ति छोड़ कर (अनाविलः 'सन्') अतिशय शुद्ध होता हुआ (मुक्तिम् विलभते) मोक्ष को प्राप्त होता है ।



उपदेशगाथा ।

उपेन्द्रवज्रा ।

जिनेन्द्र पूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम् ।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ॥६३॥

मत्तगयन्द ।

कै परमेसुरकी अरचा, विधिसौं गुरुकी उपसर्पन (?) कीजे ।
दीन विलोक दया धरिए चित, प्रासुक दान सुपत्तहिं दीजे ॥
गाहक हो गुनकौं गहिए, रुचिसौं जिन आगमकौ रस पीजे ।
ए करनी करिए घरमैं बस, यौं जगमैं नरभौ फल लीजे ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थौ—(जिनेन्द्रपूजा) जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, (गुरुपर्युपास्ति) गुरु की उपासना करना, (सत्त्वानुकम्पा) प्राणीमात्र में दया रखना, (शुभपात्रदानम्) पात्र सुपात्रों को उत्तम दान देना, (गुणानुराग) गुणों में प्रीति करना, (आगमस्य श्रुति) और जैन शास्त्रों का सुनना, (अमूनि) ये सब (नृजन्मवृक्षस्य फलानि) मनुष्य जन्म-रूपी वृक्ष के फल हैं।

भावार्थ - जिनेन्द्र पूजा आदिक करने से ही मनुष्य जन्म सफल होता है।



शिखरिणी।

त्रिसन्ध्यं देवार्चा विरचय चय प्रापय यशः
श्रियः पात्रे वाप जनय नयमार्गं नय मनः।
स्मरक्रोधाद्यारीन्दलय कलय प्राणिषु दयां
जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु वृणु जवान्मुक्तिकमलाम्॥

हरिगीता छन्द।

जो करै साध त्रिकाल सुमरन, जास जग जस विस्तरै।
जो सुनै परमानहि सुरुचिसौं नीति मारग पग धरै॥
जो निरख दीन दया प्रजुजै, कामक्रोधादिक हरै।
जो सुधन सप्त सुखेत खरचै, ताहि शिवसंपति वरै॥ ६४॥

अन्वयार्थौ—भो भव्यो, (त्रिसन्ध्यम्) प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल में (देवार्चाम् विरचय) देव पूजा करो, (यशः चयम्

प्रापय) यश-समूहको प्राप्त करो, (पात्रे श्रिय वापम् जनय) पात्रों को दान देकर लक्ष्मी का बीज बोओ, (मनः नयमार्गम् नय) मन को नीति-मार्ग पर लाओ, (स्मरक्रोधाद्यारीन) काम क्रोध आदिक शत्रुओं को (दलय) दलन करो, (प्राणिषु दयाम् कलय प्राणियों में दया धारण करो, (जिनोक्तम् सिद्धान्तम शृणु) जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को सुनो, और (जवात्) शीघ्र ही (मुक्तिकमलाम्) मुक्ति रूपी लक्ष्मीको (वृणु) स्वीकार करो ।

शार्दूलविक्रीडित ।

कृत्वार्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमं
हित्वा सङ्गमधर्मकर्मठधियां पात्रेषु दत्वा धनम् ।
गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषां जित्वान्तरारिव्रजं
स्मृत्वा पञ्चनमस्क्रियां कुरु करक्रोडस्थमिष्टं सुखम् ॥

वस्तु छन्द ।

देव पुज्जहिं देव पुज्जहिं, रचहि गुरुसेव ।
परमागमरुचि धरहिं, तजहि दुष्टसंगत ततच्छन ।
गुणि सगति आदरहिं, करहिं त्याग दुर्भच्छ भच्छन ॥
देहिं सुपात्रहिं दान नित, जपैं पंचनवकार ।
ए करनी जे आचरहिं, ते पावैं भवपार ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थौ—हे भव्य (अर्हत्पदपूजनम् कृत्वा) अरहंत देव के चरण कमलों की पूजन करके, (यतिजनम् नत्वा) आचार्य उपाध्याय और साधुजनों को नमस्कार करके (आगमम् विदित्वा) शास्त्र को ज्ञान करके

(अधर्मकर्मठधियाम् सङ्गम् हित्वा) निरन्तर अधर्म करने वाले दुष्ट मनुष्यों की सगति छोड़ करके, (पात्रेषु धनम् दत्वा) पात्र सुपात्रों को धन देकर के, (उत्तमक्रमजुषाम् पद्धतिम् ग त्वा) श्रेष्ठ कार्य करने वाले गुणी मनुष्यों के मार्गानुसार चल करके, (अन्तरारिव्रजम् जित्वा) कामक्रोधादिक अन्तरग शत्रुओं को जीत करके और (पञ्चनमस्क्रियाम् स्मृत्वा) 'णमो अरहंताणम्' इत्यादि पंच नमस्कार मन्त्र का जप करके (इष्टम् सुखम्) अपने इष्ट मोक्षादिक के सुखको (करकोडस्थम् कुरु) हाथ में ले।

भावार्थ—अर्हत्पूजनादिक करने से इष्ट मोक्षादिक के सुखकी प्राप्ति होती है।

हरिणी।

प्रसरति यथा कीर्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदरा
अभ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणसन्ततिः
कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुकर्म हतिक्षमः
कुशलसुलभे न्याय्ये कार्यं तथा पथि वर्तनम् ॥ ६६ ॥

दोहा।

गुरु अरु धर्म सुथिर रहै, यश प्रताप गभीर।
कुशल वृत्त जिम जिम लहलहै, तिहि मारग चल वीर ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थी—(यथा) जैसे (क्षपाकरसोदराकीर्ति) चन्द्रमा की चांदनी के समान निर्मल कीर्ति (दिक्षु) चारों दिशाओं में (प्रसरति) फैले, तथा (यथा) जैसे (अभ्युदयजननी गुणसन्तति) अनेक

कल्याणों के देनेवाले गुणों के समूह (स्फीतिम् याति) स्फुरायमान हों, (यथा) और जैसे (कुकर्महतिद्मसः धर्म.) समस्त पापों के नाश करने वाला धर्म (वृद्धिम् कलयति) वृद्धि को प्राप्त हो, (तथा) उसी तरह (कुशलसुलभे न्याय्ये पथि वर्त्तनम् कार्यम्) सुलमता से कल्याण करने वाले न्याय्य मार्ग में अपना वर्ताव करना चाहिये ।

शिखरिणी ।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं
मुखे सत्यावाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिर्विजयि भुजयोः पौरुषमहो
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ ९७ ॥

कवित्त छन्द ।

वदन विनय मुकट सिर ऊपर, सुगुरुवचन कुण्डल जुग कान ।
अन्तर शत्रुविजय भुजमण्डन, मुकतमाल उर गुन अमलान ॥
त्याग सहज कर कटक विराजत, शोभित सत्य वचन मुख पान ।
भूषन तजहिं तन तऊ मण्डित, यातें सन्तपुरुष परधान ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थौ—(अहो) आश्चर्य है कि (प्रकृतिमहताम्) स्वभाव से ही बड़े सज्जन पुरुषो के (करे श्लाघ्यस्त्यागः) हाथो में प्रशंसनीय दान देना, (शिरसि गुरुपादप्रणमनम्) मस्तक में निर्ग्रन्थ गुरु के चरणारविन्द को नमस्कार करना (मुखे सत्या वाणी) मुख में सत्य वचन बोलना, (श्रवणयोः अधिगतम् श्रुतम्) कर्णों में प्राप्त हुआ श्रुतज्ञान (हृदि

स्वच्छा वृत्ति) हृदय में निर्मल आचरण अथवा निर्मल विचार (च) और (भुजयो विजयि पौरुषम्) भुजाओं में सबको विजय करने वाला पौरुष (इदम्) ये सब (ऐश्वर्येण विना) विना ही ऐश्वर्य के (मण्डनम्) भूषण हैं।

भावार्थ—सज्जन पुरुष विना ही ऐश्वर्य के हाथ में दान देने रूप कङ्कण मस्तक में शास्त्र सुनने रूप कुण्डल, हृदय में स्वच्छ आचरण रूपी मुक्ता माला और भुजाओं में पौरुष इत्यादि आभूषणों से सदा भूषित रहते हैं।

नोट— नीचे लिखे तीन कवितों के मूल श्लोक नहीं मिले।



घनाक्षरी।

गहैं जे सुजन रीत गुणीसौं निबाहैं प्रीत,
सेवा साधैं गुरु की विनसों कर जोर कैं।
विद्याकौ विसन धरैं परतियसंग हरैं,
दुर्जन की संगति सौं बैठैं मुख मोर कैं॥
तजैं लोकनिंद्य काज पूजैं देव जिनराज,
करैं जे करन थिर उमग बहोरकैं।
तेई जीव सुखी होंय तेई मोखमुखी होंय,
तेई होंय परम करम फन्द तोरकैं॥ १॥
पर निन्दा त्याग कर मन में वैराग धर,
क्रोध मान माया लोभ चारौं परिहर रे॥
हिरदे में तोष गहु समतासौं सीरो रहु,
परम कौ लहु भेद भेद मैं न पर रे॥

करम कौ वश खोय मुकतिकौ पंथ जोय,
सुकृतिको बीजबोय दुर्गतिमैं डर रे ।
अरे नर ऐसो होहि बार बार कहुं तोहि,
नहिं तो सिधार तू निगोद तेरो घर रे ॥ २ ॥

(कवित्त ३१ मात्रा) ।

आलस त्याग जाग नर चेतन, बल सभार मत करहु विलम्ब ।
इहां न सुख लवलेश जगतमहिं, निंब बिरखमैं लगैं न अंब ॥
तातैं तू अन्तर विपच्छ हर, कर विलच्छ निज अच्छ-कदम्ब ।
गह गुन ग्यान बैठ चारितरथ, देहु मोख मग सन्मुख बंब ॥ ३ ॥

[1]भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम् ।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा—
दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थौ—हे भव्य, (यदि) यदि तू (भवारण्यम् मुक्त्वा) संसार रूपी महा अटवी को छोड़ कर (मुक्तिनगरीम् जिगमिषुः) मुक्ति रूपी नगरी में जाना चाहता है, (तदानीम्) तो (विषयविषवृक्षेषु वसतिम् मा कार्षीः) इन्द्रियों के विषय रूपी विषवृक्षों पर निवास मत कर । (यतः) क्योंकि (एषाम् छाया अपि) इन वृक्षों की छाया भी (अचिरात् महा-मोहम् प्रथयति) बड़ी शीघ्रता के साथ महा मोह उत्पन्न कर देती है (यस्मात्) कि जिस महा मोह से (अयम् जन्तुः) यह प्राणी (पदम् अपि गन्तुम् न प्रभवति) एक पैर भी आगे नहीं चल सकता ।

---

१. इस मूल श्लोक का पद्यानुवाद किसी भी प्रति में नहीं है ।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय विषवृक्षों के समान हैं। इनके सेवन करने से मुक्तिनगरी कदापि नहीं मिल सकती। इसलिये मोक्ष जाने की इच्छा रखनेवालों को विषयों का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

मालिनी

अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि-
द्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे।
मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण
व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम् ॥ ९९ ॥

कवित्त छन्द।

जैन वंस सर हंस दिगम्बर, मुनिपति अजितदेव अति आरज।
ताके पद वादीमदभंजन, प्रगटे विजयसेन आचारज ॥
ताके पट्ट भए सोमप्रभ, तिन ए ग्रन्थ कियो हितकारज।
जाके पढ़त सुनत अवधारत, हैं सुपुरुष जे पुरुष अनारज ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थो—(य) जो (अजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रिद्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे मधुकरसमताम् अभजत्) अजितदेव आचार्य के पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान विजयसिंह आचार्य के चरण कमलों में भौंरे की समता धारण करता था, (तेन मुनिपनेत्रा सोमप्रभेण) उस सोमप्रभ आचार्य ने (इयम् सूक्तिमुक्तावली) यह सूक्तिमुक्तावली (उत्तम वचन रूप मोतियों की माला) (व्यरचि) बनाई।

इन्द्रवज्रा ।

[1]सोमप्रभाचार्यप्रभा च लोके वस्तुप्रकाशं कुरुते यथाशु ।
तथायमुच्चैरुपदेशलेशः शुभोत्सवज्ञानगुणांस्तनोति ॥१००॥

अन्वयार्थौ--(यथा) जैसे (लोके) लोक में (सोमप्रभा) चन्द्रमा की प्रभा (च) और (आचार्यप्रभा) आचार्यों की प्रभा वा प्रतिभा (आशु वस्तुप्रकाशम् कुरुते) शीघ्र वस्तु का प्रकाश करती है, (तथा) उसीतरह (अयम् उपदेशलेशः) यह थोड़ा सा उपदेश (उच्चैः शुभोत्सवज्ञानगुणान्) उत्कृष्ट कल्याण, आनन्द और ज्ञानादि गुणों को (तनोति) बढ़ाता है । इस श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना 'सोमप्रभाचार्य' नाम व्यक्त किया है ।

इति श्रीसोमप्रभाचार्यविरचिता सिन्दूरप्रकरापरपर्याया सूक्तिमुक्तावली
भाषाछन्दानुवादसहिता समाप्त ।



---

१. इस श्लोक का भी भाषा छन्द नहीं मिला ।

२–धर्मफल

धर्मो मङ्गलमङ्गभाजां, धर्मो जनन्युद्दलिताखिलार्त्तिः।
धर्मः पिता चिन्तितपूरितार्थो, धर्मः सुहृद्वर्द्धितनित्यहर्षः ॥१॥

आरोग्यभाग्याभ्युदयप्रभुत्वं, सत्त्व शरीरे च जने महत्त्वम्।
तत्त्वं च चित्ते सदने च संपत् संपद्यते पुण्यवशेन पुंसाम् ॥२॥

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः, कामार्थिषु कामद,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां
तत्किं? यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥ ३ ॥

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बल,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपत्तयः।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो, भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥ ४ ॥

पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुमुनिप्रायोपयोग्यं धनं,
पुण्यानामुदयेन सततमिदं कस्यापि सपद्यते ॥ ५ ॥

रम्यं रूपं करणपटुताऽऽरोग्यमायुर्विशालं,
कान्ता रूपा विजितरतयः सूनवो भक्तिमन्तः।
षट्खण्डोर्वीतलपरिवृढत्वं यशः क्षीरशुभ्रं,
सौभाग्यश्रीरिति फलमहो धर्मवृक्षस्य सर्वम् ॥ ६ ॥

३–धर्मप्रभाव

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥१॥

[1]धम्मेण कुलप्पसूई, धम्मेण य दिव्वरूवसंपत्ती ।
धम्मेण धणसमिद्धि, धम्मेण सवित्थरा कित्ती ॥ २ ॥

तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलं,
तावत्सिद्ध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामण्डलतन्त्रमन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषं,
यावत्पुण्यमिदं सदा विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥ ३ ॥

व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां,
मरणभयहतानां दुःखशोकार्दितानाम् ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः ॥ ४ ॥

न देवतीर्थैर्न पराक्रमेण, न मन्त्रतन्त्रैर्न सुवर्णदाने ।
न धेनुचिन्तामणिकल्पवृक्षैर्विना स्वपुण्यैरिह वाञ्छितार्थाः ॥ ५ ॥

पश्चिमाभिमुखं याति, त्यक्त्वा विपुलमम्बरम्
रविः शूर इवि सत्यावो, यशः पुण्यैरवाप्यते ॥ ६ ॥

मासि मासि समा ज्योत्स्ना, पक्षयोरुभयोरपि ।
तत्रैकः शुक्लपक्षोऽभूद्यशः पुण्यैरवाप्यते ॥ ७ ॥

---

१ धर्मेण कुलप्रसूतिः, धर्मेण च दिव्यरूपसंपत्तिः ।
धर्मेण धनसमृद्धिः, धर्मेण विस्तृता कीर्तिः ॥

५-विधि

येनोदितेन कमलानि विकसितानि,
तेजांसि येन निखिलानि निराकृतानि ।
येनान्धकारनिकरप्रसरो निरुद्ध
सोऽप्यस्तमाप हतदैववशाद्दिनेश ॥ १ ॥

यन्मनोरथशतैरगोचर, यत्स्पृशन्ति न गिर कवेरपि ।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा, लीलयैव विदधाति तद्विधि ॥ २ ॥

अघटितघटितानि घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते ।
विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्तयति ॥ ३ ॥

छित्वा पाशमपास्य कूटरचना भङ्क्त्वा बलाद्वागुरा,
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधाना शरगोचरादतिजवेनोल्लङ्घ्य धावन् मृग,
कूपान्त पतित करोतु विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ॥ ४ ॥

यद्भग्न धनुरीश्वरस्य शिशुना यज्जामदग्न्यो जित,-
स्त्यक्ता येन गुरोर्गिरा वसुमती बद्धो यदम्भोनिधि ।
एकैक दशकन्धरस्य क्षयकृद्रामस्य किं वर्ण्यते ?
दैवं वर्णय येन सोऽपि सहसा नीत कथाशेषताम् ॥ ५ ॥

जेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्र सुरा किङ्करा,
स्वर्गो दुर्गमनुग्रह खलु हरेरैरावणो वाहनम् ।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्न परैं सङ्गरे,
तद्युक्त ननु दैवमेव शरणं धिग् धिग् वृथा पौरुषम् ॥ ६ ॥

स्थान त्रिकूट परिखा समुद्रो, रक्षांसि योद्धा धनदाच्च वित्तम् ।
संजीवनी यस्य मुखे च विद्या स रावण कालवशाद्विपन्न ॥७॥

६—कर्म

यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभ,-मशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या ।
तच्छक्यमन्यथा नैव कर्त्तुं, देवासुरैरपि हि ॥ १ ॥

प्रचलति यदि मेरु. शीततां याति वह्नि,-
रुदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायाम् ।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥ २ ॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च जन्मकृतापि सेवा ।
कर्माणि पूर्वतपसा किल सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथेह वृक्षाः ॥ ३ ॥

[1]उइअमि सहस्सकरे, सलोयणो पिच्छइ सयललोओ ।
जं न उलूओ पिच्छइ, सहस्सकिरणस्स को दोसो ? ॥ ४ ॥

यद्वज्रमयदेहास्ते, शलाकापुरुषा अपि ।
न मुच्यन्ते विना भोगं, स्वनिकाचितकर्मणः ॥ ५ ॥

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
पुराकृतं कर्म तदेव भुज्यते, शरीरहेतोस्त्वयरत्या त्वया कृतम् ॥६॥

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारं,
नैमित्तिका ग्रहकृतं प्रवदन्ति दोषम् ।
भूतोपसर्गमथ मन्त्रविदो वदन्ति,
कर्मैव शुद्धमतयो यतयो गृणन्ति ॥ ७ ॥

---

१. उदिते सहस्रकरे, सलोचनः पश्यति सकललोकः ।
यत् न न उलूकः पश्यति, सहस्रकिरणस्य को दोः ? ॥

७–भाग्य

दत्तेन प्रभुणा स्वयं जगति यद् यस्य प्रमाणीकृतं,
तत्तस्योपनयेन्मनागपि सदा नैवाश्रयः कारणम् ।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं,
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ॥ १ ॥
यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं,
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोऽधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः,
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥ २ ॥
औषधं मन्त्रवादं च, नक्षत्रं गृहदेवता ।
भाग्यकाले प्रसीदन्ति, अभाग्ये यान्ति विक्रियाम् ॥ ३ ॥
पौष्पाः पञ्च शराः शरासनमपि ज्याशून्यमक्ष्णोर्लता,
जेतव्यं च जगत्त्रयं प्रतिदिनं जेताऽप्यनङ्गः किल ।
ईदृशेऽपि वशीकृतं त्रिभुवनं जानेऽस्मि तत्कारणम्,
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ? ॥ ४ ॥
सेवितोऽपि चिरं स्वामी विना पुण्यं न तुष्यति ।
भानोराज मभक्तोऽपि, पश्य निश्चरणोऽरुणः ॥ ५ ॥
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमो,
वज्रेणाभिहताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रा नगाः ?
हस्ती स्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः,
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ? ॥ ६ ॥
उद्यमं कुर्वता पुंसा, भाग्यं सर्वत्र कारणम् ।
समुद्रमथनाल्लेभे, हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ॥ ७ ॥

८–सत्त्व

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ १ ॥

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं,
कूर्मो बिभर्ति धरणिं किल चात्मपृष्ठे ।
अम्भोनिधिर्वहति दुःसहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥ २ ॥

एकोऽहमसहायोऽहं, कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता, मृगेन्द्रस्य न जायते ॥ ३ ॥

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ ४ ॥

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा,
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ ५ ॥

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते र्न शक्यते सत्त्वगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने, र्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदत्र ॥६॥

अप्रार्थितानि दुःखानि, यथैवायान्ति देहिनः ।
सुखान्यपि तथा मन्ये, दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥ ७ ॥

६–सत्पुरुष

विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥१॥

येषां मनांसि करुणारसरञ्जितानि,
येषां वचांसि पटुदोषविवर्जितानि।
येषां धनानि सकलार्थिजनाश्रितानि,
तेषां कृते वहति कूर्मपतिर्धरित्रीम् ॥ २ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा,
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ ३ ॥

चेतः सार्द्रतरं वचः सुमधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्ज्वला
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दीनदैन्यापहा।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकता,-
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो नवसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥ ४ ॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणनुतिभिः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः,
पुष्णन्तः स्वीयमर्थं सततकृतमहारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान् खर्वयन्तः,
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमता वन्दनीया जयन्ति ॥ ५ ॥

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ? ॥ ६ ॥

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते ॥ ७ ॥

१०–उपकार

अस्ति जलं जलराशौ, तत्किं क्षारं विधीयते तेन ? ।
लघुरपि वरं स कूपो, यत्राऽऽकण्ठं जनः पिबति ॥ १ ॥

हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयधे !,
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकार घटना वैमुख्यलब्धायशो,—
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया सहायकं यन्मरोः ॥ २ ॥

वर करीरो मरुमार्गवर्त्ती, यः पान्थसार्थं कुरुते कृतार्थम् ।
कल्पद्रुमैः किंकनकाचलस्थैः ?, परोपकारप्रतिलम्भदुःस्थैः ॥ ३ ॥

अर्काः-किं फलसंचयेन भवतां किं व प्रसूनै र्नवैः,
किं वा भूरिलताचयेन महता गोत्रेण किं भूयसा ? ।
येषामेकतमो बभूव स पुनर्नैवास्ति कश्चित्कुले,
छायायामुपविश्य यस्य पथिकास्तृप्तिं फलैः कुर्वते ॥ ४ ॥

न चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया, करोति भाभिः कुमुदावबोधनम् ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं, परोपकारव्यसनं हि जीवितम् ॥ ५ ॥

किं चन्द्रेण महोदधेरुपकृतं दूरेऽपिसंतिष्ठता,
वृद्धौ येन विवर्द्धते व्रजति च क्षीणे क्षयं सागरः ।
आः ज्ञातं परकार्यनिश्चितधियां कोऽपि स्वभावः सतां,
स्वैरङ्गैरपि येन यान्ति तनुतां दृष्ट्वा परं दुःखितम् ॥ ६ ॥

परोपकारः सुकृतैकमूलं, परोपकारः कमलादुकूलं ।
परोपकारः प्रभुताविधाता, परोपकारः शिवसौख्यदाता ॥ ७ ॥

११—गुण

दोषमपि गुणवति जने, दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यन्ते ।
प्रीत्यैव शशिनि पतितं, पश्यति लोकः कलङ्कमपि ॥ १ ॥

विषमस्थितोऽपि गुणवान्, स्फुटतरमाभाति निजगुणैरेव ।
जलनिधिजलमध्येऽपि हि दीप्यन्ते किं न रत्नानि ॥ २ ॥

गुणा यत्र न पूज्यन्ते, का तत्र गुणिना गतिः ?
नग्नक्षपणकग्रामे, रजकः किं करिष्यति ? ॥ ३ ॥

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।
सुमेरुशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते ? ॥ ४ ॥

[१]गुणहीणा जे पुरिसा कुलस्स गव्वं वहृति ते मूढा ।
वंसुप्पन्नेवि धणू, गुणहीणे नत्थि टङ्कारो ॥ ५ ॥

जन्मस्थानं न खलु महिमा वर्णनीयो न वर्णो,
दूरे शोभा वपुषि निहिता पङ्कशङ्कां करोति ।
यद्यप्येवं सकलसुरभिद्रव्यगर्वापहारी,
को जानीते परिमलगुणं वस्तुकस्तूरिकायाः ? ॥ ६ ॥

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद्दूर्वापि गोलोमतः,
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना,
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ? ॥ ७ ॥

गुणेष्वेवादरः कार्यः, किमाटोपैः प्रयोजनम् ?
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥ ८ ॥

---

१ गुणहीना ये पुरुषाः, कुलस्य गर्वं वहन्ति ते मूढाः ।
वंशोत्पन्नेऽपि धनुषि, गुणहीने नास्ति टङ्कारः ॥

१२–सत्संग

धनाढ्यता राजकुलेऽभिमानं, प्रियानुकूला तनया विनीताः।
धर्मे मतिः सज्जनसंगतिश्च, स्वर्गाः षडेते जगतीतलान्तः ॥ १ ॥
नैवास्वाद्यरसायनस्य रसनात्पीयूषपानाच्च नो,
नो साम्राज्यपदाप्तिः, प्रतिदिनं नो पुत्रलाभादपि।
नैवायत्नसुरत्नलाभवशतो नैवान्यतोऽप्यस्ति सा,
या संप्रीतिरुदेति सज्जननृणां सद्भिः समं संगमात् ॥२॥
संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिसंपुटगतं तज्जायते मौक्तिकं,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतः संभवेत् ॥ ३ ॥
गुणवज्जनसंसर्गाद्याति, स्वल्पोऽपि गौरवम्।
पुष्पमालानुषंङ्गेण, सूत्रं शिरसि धार्यते ॥ ४ ॥
उन्नतघनमध्यगतं, निर्गुणमपि वहति सुरधनुः शोभाम्।
तेन महद्भिः सार्द्धं, संवासः प्रार्थ्यते सद्भिः ॥ ५ ॥
नीचोऽपि परिगृहीतो, महात्मभिः परमुपैति परभागम्।
स्फटिकोपलोऽपि रक्तः कुशलैर्माणिक्यमनुकुरुते ॥ ६ ॥
चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये, शीतलः साधुसंगमः ॥ ७ ॥
महिमानं महीयांसं, सङ्गः सूते महात्मनाम्।
मन्दाकिनीमृदो वन्द्या,–स्त्रिवेदीवेदिनामपि ॥ ८ ॥
संसारकटुवृक्षस्य, द्वे फले ह्यमृतोपमे।
सुभाषितरसास्वादः, संगतिः सुजने जने ॥ ९ ॥

१३-दान

दानेन भूतानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाना,-त्ततः पृथिव्यां प्रवरं हि दानम् ॥१॥

दानेन शक्तित्वमुपैति जन्तु,-र्दानेन देवाधिपतित्वमुच्चैः ।
दानेन निःशेषयशोऽभिवृद्धि,-र्दानं शिवे धारयति क्रमेण ॥२॥

दानं मानवदानवेन्द्रपदवीविस्तारणे प्रत्यलं,
दानं वासवसुन्दरीसरभसक्रीडाकलाकौशलम् ।
दानं मोक्षकपाटपाटनविधौ स्फूर्जत्सुरेन्द्रायुधं,
दानं त्रिष्टपजन्तुपुण्यनिवहप्रासादसिद्धध्वजं ॥ ३ ॥

पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्द्धनं रिपुजने वैरापहारक्षमम् ।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलम् ॥ ४ ॥

देवानां सदनं सुवर्णशिखरी सर्वंसहा मेदिनी,
रत्नानां निलयश्च कुम्भतनयोऽनन्तस्तथाऽहर्पतिः ।
स्वर्भाणुर्निशितं सुदर्शनमथो ज्येष्ठः करः केशवः,
सोऽयं श्रीपुरुषोत्तमोऽपि बलिना दानेन भिक्षुः कृतः ॥ ५ ॥

जीवति स जीवलोके, यस्य गृहाद्यान्ति नार्थिनो विमुखाः ।
मृतकवदन्यजनोऽसौ दिनानि पूरयति कालस्य ॥ ६ ॥

दातव्यं भोक्तव्यं, सति विभवे सञ्चयो न कर्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां, सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ ७ ॥

मा मंस्था क्षीयते वित्तं, दीयमानं कदाचन ।
कूपारामगवादीनां, ददतामेव सम्पदः ॥ ८ ॥

१४—काम

दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
कामान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा,-
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥

किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्य,-
स्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ? ॥ २ ॥

शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाऽक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रपवित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥ ३ ॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किं तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कंदर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥ ४ ॥

अये चेतोमत्स्य ! भ्रमणमधुना यौवनजले,
त्यज स्वच्छन्दत्वं युवतिजलवौ पश्यसि न किम् ?
तनूजालीजालं स्तनयुगलतुम्बीफलयुतं,
मनोभूकैवर्त्तास्तत्र मरणहेतोर्भ्रमयति ॥ ५ ॥

दिवा पश्यति नो घूकः, काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवानक्तं न पश्यति ॥ ६ ॥

१५–स्त्री

संसारे[१] ह्यविहिया, महिलारूवेण मण्डिअ पासं ।
बज्झति जायमाणा, अयाणमाणावि बज्झन्ति ॥ १ ॥
मानो म्लायति पौरुषं विगलति क्लेशः समुन्मीलति,
स्थैर्यं जीर्यति धैर्यमेति विपदं गम्भीरिमा भ्रश्यति ।
बुद्धिर्भ्राम्यति न प्रशाम्यति रुजा चेतोऽधिकं ताम्यति,
व्रीडा क्लाम्यति कामिनीमदिरया मत्तस्य पुंसो हहा ॥ २ ॥
स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षितैः
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समन्तपाशं खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ ३ ॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ? ॥ ४ ॥
दुरितघनघनाली शोककान्तारपाली,
भवकमलमराली पापतोयप्रणाली ।
विकटकपटपेटी मोहभूपालचेटी,
विषयविषभुजङ्गी दुःखसारा कुराङ्गी ॥ ५ ॥
सनूपुरालक्तकपादताडितो, द्रुमोऽपि यासां विकसत्यचेतनः ।
तदङ्गनास्पर्शरसाद्द्रवीकृतो, विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम् ॥६॥

---

१ संसारे ह्यविधिना, महिलारूपेण मंडितं पाशः ।
बध्यन्ते जानाना, अजानाना अपि बध्यन्ते ॥

१६--प्रकीर्ण

[1]सव्व विलविअं गीअं, सव्वं नट्टं विडम्बणा।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥ १ ॥
भोगे रोगभयं सुखे क्षयभय वित्ते च भूभृद्भयं,
माने म्लानिभय जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयम्।
दास्ये स्वामिभयं देहे कृतान्तद्भयं,
सर्वं नाम भयं भवेदिदमहो वैराग्यमेवाभयम् ॥ २ ॥
विकम्पते हस्तयुग वपुः श्रीः, प्रयाति दन्ता अपि विद्रवन्ति।
मृत्यावुपागच्छति निर्विलम्बं, तथापि जन्तुर्विषयाभिलाषी ॥ ३ ॥
अविदितपरमानन्दो, वदति जनो विषय एव रमणीयः।
तिलतैलमेव मिष्टं, येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥ ४ ॥
वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ५ ॥
कुरङ्गमातङ्गभृङ्ग,-मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्याद्यः सेवते पंचभिरेव पंच ॥ ६ ॥
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृप सेवकाः,
सर्वं स्वार्थवशाज्जनोऽभिरमते नो कस्य को वल्लभः ॥ ७ ॥
[2]जा दव्वे होइ मई अहवा तरुणीसु रूववंतीसु।
सा जइ जिणवरधम्मे, करयलमज्झ ठिआ सिद्धी ॥ ८ ॥

१--सर्वं गीतं विलपित, सर्वं नृत्य विडम्बना।
सर्वाण्याभरणानि भाराः, सर्वेकामा दुःखावहाः ॥

२--या द्रव्ये भवति मतिरथवा तरुणीषु रूपवतीषु।
सा यदि जिनवरधर्मे करतलमध्ये स्थिता सिद्धिः ॥

॥ ॐ नमोऽर्हद्भ्यः । ऐँ नमः ॥

उपाध्यायजी श्रीक्षमाकल्याणाजी प्रणीत-

त्रैलोक्यप्रकाशाख्या-

श्रीचैत्यवन्दन-चोवीशी

श्रीऋषभदेवजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (१)

(शार्दूलविक्रीडित-छन्द)

सद्भक्त्यानतमौलिनिर्जरवरभ्राजिष्णुमौलिप्रभा—
समिश्राऽरुणदीप्तिशोभचरणाम्भोजद्वयः सर्वदा ।
सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः सुचरितो धर्मार्थिनां प्राणिनां,
भूयाद् भूरिविभूतये मुनिपतिः श्रीनाभिसूनुर्जिनः ॥१॥
सद्बोधोपचिताः सदैव दधता प्रौढप्रतापश्रियौ,
येनाऽज्ञानतमोवितानमखिलं विक्षिप्तमन्तःक्षणम् ।
श्रीशत्रुंजयपूर्वशैलशिखरं भास्वानिवोद्भासयन्,
भव्याम्भोजहितः स एष जयतु श्रीमारुदेवप्रभुः ॥२॥

यो विज्ञानमयो जगत्त्रयगुरुर्यं सर्वलोकाः श्रिताः,
सिद्धिर्येन वृता समस्तजनता यस्मै नतिं तन्वते ।
यस्मान्मोहमतिर्गता मतिभृतां यस्यैव सेव्यं वचो,
यस्मिन् विश्वगुणास्तमेव सुतरां वन्दे युगादीश्वरम् ॥३॥

श्रीअजितनाथजिनेन्द्र--चैत्यवन्दनम् (२)

(मालिनी-छन्दः)

सकलसुखसमृद्धिर्यस्य पादारविन्दे,
विलसति गुणरक्ता भक्तराजीव नित्यम् ।
त्रिभुवनजनमान्यः शान्तमुद्राऽभिरामः,
स जयति जिनराजस्तुङ्गतारङ्गतीर्थे ॥ १ ॥

प्रभवति किल भव्यो यस्य निर्वर्णनेन,
व्यपगतदुरितौघः प्राप्तमोदप्रपञ्चः ।
निजबलजितरागद्वेषविद्वेषिवर्गं,
तमजितवरगोत्रं तीर्थनाथं नमामि ॥ २ ॥

नरपतिजितशत्रोर्वंशरत्नाकरेन्दुः,
सुरपति-यतिमुख्यैर्भक्तिदक्षैः समर्च्यः ।
दिनपतिरिव लोकेऽपास्तमोहान्धकारो,
जिनपतिरजितेशः पातु मां पुण्यमूर्त्तिः ॥ ३ ॥

श्रीसंभवनाथजिनेन्द्र--चैत्यवन्दनम् (३)

(स्रग्धरा-छन्द)

पङ्कत्यासक्तचित्ताः प्रचुरतरभवभ्रान्तिमुक्ताम नुष्याः,
सञ्जाताः साधुमार्गोल्लसितनिजगुणान्वेषिणः सद्य एव ।
स श्रीमान सम्भवेशः प्रशमरसमयो विश्वविश्वोपकर्ता,
सद्भर्ता दिव्यदीप्तिः परमपदकृते सेव्यतां भव्यलोकाः ! ॥१॥

शुक्लध्यानोदकेनोज्ज्वलमतिशयितस्वच्छभावाद्भुतेन,
स्वस्मादादत्य धृत्त शिवपद निगमं कर्मरङ्कप्रपञ्चम् ।
नीरन्ध्र दूरयित्वा प्रकृतिमुपगति निर्विकल्पस्वरूपः,
सेव्यस्ताप्यध्वजोऽसौ जगति जिनपतिर्वीतरागः सदैव ॥ २ ॥

वार्धौ विद्योतिरत्नप्रकर इव परिभ्राजते सर्वकाले,
यस्मिन्नि· शेषदीपव्ययगमविशदे श्री जितारेस्तनूजे ।
दुष्प्रापो दुष्टसत्त्वै स्फुटगुणनिकरः शुद्धबुद्धिसमादिः,
कल्याणश्रीनिवासः स भवति वदताऽस्पचनीयो न केषाम् ॥३॥

श्रीअभिनन्दनजिनेन्द्र- चैत्यवन्दनम् (४)

(द्रुतविलम्बित-छन्द)

विशदशारदसोमसमाननः,
कमलकोमलचारुविमोचन
शुचिगुण सुताममिनन्दन ',
जय सुनिर्मलताञ्चतभूघनः ॥ १ ॥

जगति कान्तहरीश्वरलाञ्छित-
क्रमसरोरुह ! भूरिकृपानिधे ! ।
मम समीडितसिद्धिविधायकं,
त्वदपरं कमपीह न तर्कये ॥ २ ॥

प्रवरसंवर ! संवरभूपते—
स्तनय ! नीतिविचक्षण ! ते पदम् ।
शरणमस्तु जिनेश ! निरन्तरं,
रुचिरभक्तिसुयुक्तिभृतो मम ॥ ३ ॥

श्रीसुमतिनाथजिनेन्द्र--चैत्यवन्दनम् (५)

(उपेन्द्रवज्रा-छन्दः)

सुवर्णवर्णो हरिणा सवर्णो,
मनोवनं मे सुमतिर्वलीयान् ।
गतस्ततो दुष्टकुदृष्टिराग-
घनोपमा गर्जति मानसे मे ।
अहो गुरुद्वेषहुताशन ! त्वा-
मसौ शमं नेष्यति सद्य एव ॥ २ ॥

इतः सुदूरं व्रज दुष्टबुद्धे !,
समं दुरात्मीयपरिच्छदेन ।

सुबुद्धिभर्ता सुमतिर्जिनेशो,
मनोरमः स्वान्तमितो मदीयम् ॥ ३ ॥

श्रीपद्मप्रभजिनेन्द्र--चैत्यवन्दनम् (६)

(भुजङ्गप्रयात-छन्द)

उदारप्रभामण्डलैर्भासमान',
कृताऽत्यन्तदुर्दान्तदोषापमानः ।
सुसीमाङ्गज ! श्रीपतिर्देवदेव',
सदा मे मुदाऽभ्यर्चनीयस्त्वमेव ॥ १ ॥
यदीय मनः पङ्कज नित्यमेव,
त्वयाऽलङ्कृत ध्येयरूपेणदेव ! ।
प्रधानस्वरूप त्वमेवाऽतिपुण्य,
जगन्नाथ ! जानामि लोके सुधन्यम् ॥ २ ॥
अतोऽधीश ! पद्मप्रभाऽऽनन्दधाम,
स्मरामि प्रकाम तवैवाह्न नाम ।
मनोवाञ्छितार्थप्रद योगिगम्य,
यथा चक्रवाको रवेर्धाम रम्यम् ॥ ३ ॥

उदारचारित्रनिधे जगत्प्रभो !,
तवाननाम्भोजविलोकनेन मे ।
व्यथा समस्ताऽस्तमितोदित सुख,
यथा तमिस्रा दिवमर्कतेजसा ॥ २ ॥
सदैव मसेवनतत्परे जने,
भवन्ति सर्वेऽपि सुरा सुहृत्तयः ।
समग्रलोके समचित्तवृत्तिना,
त्वयैव सजातमतो नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥



श्रीसुविधिनाथजिनेन्द्र-चैत्यवदनम् (६)

(वसन्ततिलका-छन्द)

विश्वाभिवन्द्य मकराङ्कितपादपद्म !,
सुग्रीवजात जिनपुङ्गव शान्तिसद्म ! ।
भव्यात्मतारणतरोचमयानपात्र !,
मां तारयस्व भववारिनिधेर्विरूपात् ॥ १॥
नि.शेषदोषविगयोद्भवमोक्षमार्ग,
भव्याः श्रयन्ति भवदाश्रयतो मुनीन्द्र !
मसेवित. सुरमणिर्बहुधा जनानां,
किं नाम नो भवति कामितसिद्धिकारी ? ॥२॥
विज्ञ कृपारसनिधिं सुविधे ! स्वयभू-
र्मत्वा भवन्तमिति विज्ञपयामि तावत् ।

पार्थिवेशवसुपूज्यवेश्मनि, प्राप्तपुण्यजनुषं जगत्प्रभुम् ।
वासुपूज्यपरमेष्ठिनं सदा, के स्मरन्ति न हि तं विपश्चितः? ॥३॥



श्रीविमलनाथजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (१३)

(मन्दाक्रान्ता-छन्दः)

संसारेऽस्मिन् महति महिमाऽमेयमानन्दिरूपं,
त्वां सर्वज्ञं सकलसुकृतिश्रेणिसंसेव्यमानम् ।
दृष्ट्वा सम्यग्विमलसदसज्ज्ञानधाम प्रधानं,
संप्राप्तोऽहं प्रशमसुखदं संभृतानन्दवीचिम् ॥ १ ॥
ये तु स्वामिन् ! कुमतिपिहितस्फारसद्बोधमूढाः,
सौम्याकारां प्रतिकृतिमपि प्रेक्ष्य ते विश्वपूज्याम् ।
द्वेषोद्भूतेः कलुषितमनोवृत्तयः स्युः प्रकामं,
मन्ये तेषां गतशुभदृशां का गतिर्भाविनीति ॥ २ ॥
श्यामासूनो ! प्रतिदिनमनुस्मृत्य विज्ञानिवाक्यं,
हित्वाऽनार्यं कुमतिवचनं ये भुवि प्राणभाजः ।
पूर्णानन्दोल्लसितहृदयास्त्वां समाराधयन्ति,
श्लाघ्याचाराः प्रकृतिसुभगाः सन्ति धन्यास्त एव ॥३॥



श्रीअनन्तनाथजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (१४)

(स्रग्विणी-छन्द)

यस्य भव्यात्मनो दिव्यचेतोगृहे,
सर्वदाऽनन्तचिन्तामणिर्द्योतते ।
यान्ति दूरे स्वतस्तस्य दुष्टापदो,
विश्वविज्ञानवित्त मवेदक्षयम् ॥ १ ॥
यस्तु सवज्ञरूप स्वरूपस्थित,
वीक्ष्य मद्भावतः सिंहसेनात्मजम् ।
अद्भुताऽऽमोदमदोहमपूरितो,
मन्यते धन्यमात्मीयनेत्रद्वयम् ॥ २ ॥
सोऽपवर्गानुगामिस्वभावोज्ज्वला,
व्यूढमिथ्यात्वविद्रावणे तत्पराम् ।
यन्धुगात्मानुभूतिप्रकाशोद्यता,
शुद्धसम्यक्त्वसपत्तिमालम्बते ॥ ३ ॥ (युगमम्)



श्रीधर्मनाथजिनेन्द्र—चैत्यवन्दनम् (१५)

(कामक्रीडा-छन्द)

भास्वज्ज्ञान शुद्धात्मान धर्मेशान मद्ध्यान,
शक्त्या युक्त दोषोन्मुक्त तत्त्वासक्त सद्भक्तम् ।
शश्वच्छान्त कीर्त्या कान्त ध्वस्तध्वान्त विश्राम,
क्षिप्तावेश सत्तपदेश श्री धर्मेश वन्दध्वम् ॥ १ ॥

महिमधाम भजामि जगत्रये,

वरमनुत्तरसिद्धिसमृद्धये ॥३॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीकुन्थुनाथजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (१७)

(गीतपद्धति छन्द)

जय जय कुन्थुजिनोत्तम सत्तमतत्त्वनिधान !

धर्मिजनोज्ज्वलमानसमानसहससमान ! ।

ज्ञानाच्छादकमुख्यमहोद्धतकर्मविमुक्त !,

विषमविषयपरिभोगविरक्त शुभाशययुक्त ! ॥ १ ॥

जय जय विश्वजनीन मुनिव्रजमान्य ! विशुद्ध-

चेतन चारुचरित्रपवित्रितलोक विबुद्ध !

निरुपममेरुमहीधरधीर ! निरन्तरमेव,

गर्वविवर्जित सर्वसुपर्वविनिर्मितसेव ॥ २ ॥

जय जय सूरनरेश्वरनन्दन चन्दनकल्प !,

जिनेश विश्वविभावविनाशक वीतविकल्प ! ।

निर्मलकेवलबोधविलोकितलोकालोक !,

प्रादुर्भूतमहोदयनिर्वृति नित्यविशोक ! ॥ ३ ॥

श्रीअरनाथजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (१८)

(रामगिरिरागेण गीयते)

दिव्यगुणधारकं भव्यजनतारकं,
दुरितमतिवारकं सुकृतिकान्तम् ।
जितविषमसायकं सर्वसुखदायकं,
जगति जिननायकं परमशान्तम् ॥ १ ॥
स्वगुणपर्यायसंमीलितं नौमि तं,
विगतपरभावपरिणतिमखण्डम् ।
सर्वसंयोगविस्तारपारंगतं,
प्राप्तपरमात्मरूपं प्रचण्डम् ॥दिव्यगुण०॥ २ ॥
साधुदर्शनवृतं भाविकैः प्रस्तुतं,
प्रातिहार्याष्टकोद्भासमानम् ।
सततमुक्तिप्रदं सर्वदा पूजितं,
शिवमहीसार्वभौमप्रधानम् ॥दि०॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीमल्लिनाथजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् १९)

(गीतनी चाल)

कुम्भसमुद्भव संमदाकर गुणवर !
हेमल्लिजिनोत्तमदेव !, जय जय विश्वपते ! ॥ १ ॥

कृत्याकृत्यविवेकिता जिन समुचिता ।
हे त्वयि जागर्ति जिनेश !, जय जय विश्वपते ! ॥ २ ॥
नित्यानन्दप्रकाशिका भ्रमनाशिका ।
हे तव शुभदृष्टिरनीश !, जय जय विश्वपते ! ॥ ३ ॥
शुद्धिनिबन्धनमन्निधे सद्गुणनिधे ! ।
हे वर्जितसर्वविकार !, जय जय विश्वपते ॥ ४ ॥
निजनिरुपाधिकसम्पदा शोभित सदा ।
हे निर्मलधर्मधुरीण !, जय जय विश्वपते ! ॥ ५ ॥

श्रीमुनिसुव्रतजिनेन्द्र—चैत्यवन्दनम् (२०)

(अन्यगेयपद्धति—राग

उत्तमचतन धर्मसमृद्ध जगत्पते !,
नित्याऽनित्यपदार्थनिचयविलसन्मते ! ।
निज विक्रमजितमोहमहोद्भटभूपते !,
श्रीपद्मातनुजात सुजातहरिद्द्युते ! ॥ १ ॥
श्रीमुनिसुव्रत सुव्रतदेशक ! सज्जनाः,
कृतसद्गुरुशुभवाक्यसुधारसमज्जनाः ।
ये प्रणमन्ति भवन्तमनन्तसुखाश्रित,
केवलमुज्ज्वलमात्मखण्डमनिन्दितम् ॥ २ ॥
ते निःसशयमेव जगत्रयवन्दिताः,
सद्भावेन भवन्ति सुदृष्टयानन्दिताः ।

कृत्यं स्वोचितमेव यतः किल कारणं,
जनयति नात्मविरुद्धमिहाऽसाधारणम् ॥ ३ ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीनमिनाथजिनेन्द्र—चैत्यवन्दनम् (२१)

(पञ्चचामर—छन्दः)

नमीश निर्मलात्मरूप सत्यरूप ! शाश्वतं,
परोर्ध्वसिद्धिसौधमूर्ध्नि सत्स्वभावतः स्थितम् ।
विधाय मानसाब्जकोशदेशमध्यवर्तिन,
स्मरामि सर्वदा भवन्तमेव सर्वदर्शिनम् ॥ १ ॥
प्रफुल्लकोञ्चलाञ्छन ! प्रभूततेजसोऽद्य ते,
दिवाकरस्य वा महेश्वराऽभिदर्शनेन मे ।
प्रमादवर्धिनी सुदुर्मतिर्निशेव दुर्भगा,
गता प्रणाशमाशु हृत्कजे विनिद्रताऽभवत् ॥ २ ॥
निरस्तदोषदुष्टकष्टकार्यमर्त्यसंस्तकी,
भवे भवे भवत्पदाम्बुजैकसेवकः प्रभो ! ।
भवेयमीदृशं भृशं मदीयचित्तचिन्ततं,
तव प्रसादतो भवत्ववन्ध्यमेव सत्वरम् ॥ ३ ॥

श्रीनेमिनाथजिनेन्द्र—चैत्यवन्दनम् [२२]

(उपजाति—छन्द)

विशुद्धविज्ञानभृतां वरेण्, शिवात्मजेन प्रशमाकरेण ।
येन प्रयासेन विनैव काम, विजित्य विक्रान्तनर प्रकामम् ॥१॥
विहाय राज्य चपलस्वभाव, राजीमतीं राजकुमारिका च ।
गत्वासलील गिरिनारशैलं, मेजे व्रत केवलमुक्तियुक्तम् ॥ २ ॥
निःशेषयोगीश्वरमौलिरत्न, जितेन्द्रियत्वे विहितप्रयत्नम् ।
तमुत्तमानन्दनिधानमेक, नमामि नेमिं विलसद्विवेकम् ॥३॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्र—चैत्यवन्दनम् [२३]

(पञ्चचामर—छन्द)

श्रयामि जिन सदा मुदा प्रमादवर्जित,
स्वकीयवाग्विलासतो जितोरुमेघगर्जितम् ।
जगत्प्रकामकामितप्रदानदक्षमक्षत,
पद दधानमुच्चकैरकैतवोपलक्षितम् ॥ १ ॥
सतामवद्यभेदक प्रभूतसपदा पद,
वलक्षपक्षमगत जनेक्षणक्षणप्रदम् ।
सदैव यस्य दर्शन विशां विमर्दितैनसा,
निहन्त्यपातजावमात्ममक्तिरक्तचेतसाम् ॥ २ ॥

अवाप्य यत्प्रसादमादितः पुरुश्रियो नरा,
भवन्ति मुक्तिगामिनस्ततः प्रभाप्रभास्वराः ।
अजेयमाश्वसेनिदेवदेवमेव सत्पदं,
तमुच्चमानसेन शुद्ध बोधवृद्धिलाभदम् ॥ ३ ॥

श्रीमहावीरजिनेन्द्र-चैत्यवन्दनम् (२४)

(पृथ्वी—छन्दः)

वरेण्यगुणवारिधिः परमनिर्वृतः सर्वदा,
समस्तकमलानिधिः सुरनरेन्द्रकोटिश्रितः ।
जनालिसुखदायको विगतकर्मवारो जिनः,
सुमुक्तजनसंगमस्त्वमसि वर्धमानप्रभो ! ॥ १ ॥
जिनेन्द्र ! भवतोऽद्भुतं मुखमुदारबिम्बस्थितं,
विकारपरिवर्जितं परमशान्तमुद्राङ्कितम् ।
निरीक्ष्य मुदितेक्षणः क्षणमितोऽस्मि यद्भावनां.
जिनेश जगदीश्वरोद्भवतु सर्व मे सर्वदा ॥ २ ॥
विवेकिजनवल्लभं भुवि दुरात्मनां दुर्लभं,
दुरन्तदुरितव्यथाभरनिवारणे तत्परम् ।
तवाङ्घ्रपदपद्मयोर्युगमनिन्द्यवीरप्रभो !,
प्रभूतसुखसिद्धये मम चिराय संपद्यताम् ॥ ३ ॥

महाकवि-श्रीशोभनमुनिप्रणीत—

चतुर्विंशतिजिनेन्द्र-स्तुतयः।

श्रीऋषभदेवजिनेन्द्र—स्तुति. (१)

(शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)

भव्याम्भोजविबोधनैकतरणे विस्तारिकर्मावली-
रम्भासामज नाभिनन्दन ! महानष्टापदाभासुरैः।
भक्त्या वन्दितपादपद्म विदुषां संपादय प्रोज्झिता-
रम्भाऽऽमाय जनाभिनन्दन महानष्टापदाभासुरैः॥ १ ॥

ते वः पान्तु जिनोत्तमाः क्षतरुजो नाचिक्षिपुर्यन्मनो,
दारा विभ्रमरोचिताः सुमनसो मन्दारवा राजिताः।
यत्पादौ च सुरोज्झिताः सुरभयांचक्रुः पतन्त्योऽम्बरा-
दाराविभ्रमरोचिताः सुमनसो मन्दारवाराऽजिताः॥ २ ॥

शान्तिं वस्तनुतान्मिथोऽनुगमनाद् यन्नैगमाद्यैर्नयै-
रक्षोभं जन हेऽतुला छिन्नमदीदोणाङ्गजालं कृतम्।
तत् पूज्यैर्जगतां जिनैः प्रवचनं दृप्यत्कुवाद्यावली-
रक्षोभञ्जनहेतुलाञ्छितमदो दीप्ताङ्गजाऽलंकृतम्॥ ३ ॥

शीतांशुत्विषि यत्र नित्यमदधद् गन्धाढ्यधूलीकणा-
नाली केसरलालसा समुदिताऽऽशु भ्रामरीभासिता।

पायाद् वः श्रुतदेवता निदधती तत्राऽब्जकान्ती क्रमौ,
नाली के रसलालसा समुदिता शुभ्रामरीभासिता ॥ ४ ॥

श्रीअजितनाथजिनेन्द्र—स्तुतिः । [२]

(पुष्पिताग्रा–वृत्तम्)

तमजितमभिनौमि यो विराजद्—
वनघनमेरुपरागमस्तकान्तम् ।
निजजननमहोत्सवेऽधितष्ठा–
वनघनमेरुपरागमस्तकान्तम् ॥ १ ॥

स्तुत जिननिवहं तमर्तितप्ता–
ऽध्वनदसुरामरवेण वस्तुवन्ति ।
यमसरपतयः प्रगाय पार्श्व[१]–
ध्वनदसुरामरवेणव स्तुवन्ति ॥ २ ॥

प्रवितर वसतिं त्रिलोकबन्धो !,
गमनययोगतताऽन्तिमे पदे हे ।
जिनमत विततापवर्गवीथी–
गमनययो ! गततान्ति मेऽपदेह ॥ ३ ॥

सितशकुनिगताशु मानसीद्धा–
त्तततिमिरंमदभा सुराजिताशम् ।

---

१ व्यत्यये लुग्वा (सिद्धहेम १–३–५६) इत्यनेन रेफस्य लुकि कृते विसर्गाभावः ।

वितरतु दधती पविं क्षतोद्य-
ततितिमिर मदभासुराऽजिता शम् ॥ ४ ॥

श्रीसम्भवनाथजिनेन्द्र—स्तुतिः [३]

(आर्यागीति—वृत्तम्)

निर्भिन्नशत्रुभवभय !, श भवकान्तारतार तार ! ममाऽरम् ।
वितर त्रातजगत्त्रय !, शमन ! कान्तारतारताऽममारम् ॥१॥
आश्रयतु तव प्रणत, विभया परमा रमाऽरमानमदमरैः ।
स्तुत रहित जिनकदम्बक ! विभयाऽपरमार मारमानमदमरैः ॥२॥
जिनराज्या रचित स्ता दसमाननयानया नयायतमानम् ।
शिवशर्मणे मत दध दसमाननयानयानया यतमानम् ॥३॥
शृङ्खलभृत् कनकनिभा, या तामसमानमानमानवमहिताम् ॥४॥
श्रीवज्रशृङ्खला कज—यातामसमानमाऽनवमहिताम् ॥ ४ ॥

श्रीअभिनन्दनजिनेन्द्र—स्तुतिः (४)

(द्रुतविलम्बित—वृत्तम्)

त्वमशुभान्यभिनन्दन नन्दिता-
सुरवधूनयनः परमोदरः ।
स्मरकरीन्द्रविदारणकेसरिन् !
धुरत धूनय नः परमोऽदरः ॥ १ ॥

जिनवराः प्रयतध्वसितामया,
मम तमोहरणाय महारिणः ।
प्रदधतो भुवि विश्वजनीनता-
ममतमोहरणा यमहारिणः ॥ २ ॥
असुमतां मृतिजात्यहिताय यो,
जिनवरागम नो भवमायतम् ।
अलघुतां नय निर्मथितोद्धता-
जिनवरागमनोभवमाय तम् ॥३ ॥
विशिखशङ्खजुषा धनुषाऽस्तसत्-
सुरभिया ततनुन्नमहारिणा ।
परिगतां विशदामिह रोहिणीं,
सुरभियाततनुं नम हारिणा ॥ ४ ॥

श्रीसुमतिनाथजिनेन्द्र—स्तुतिः । (५)

(आर्यागीति-वृत्तम्)

मदमदनरहित नरहित, सुमते सुमतेन कनकतारेतारे ! ।
दमदमपालय पालय, दरादरातिक्षतिक्षपातः पातः ! ॥ १ ॥
विधुता रा विधुताराः, सदा सदाना जिना जिताघाताऽघाः ।
तनुताऽपातनुतापा, हितमाहितमानवनवविभवा विभवाः ॥२॥
मतिमति जिनराजि नरा-हितेहिते रुचितरुचि तमोहेऽमोहे ।
मतमतनूनं नूनं, स्मराऽस्मराधीरधीरसुमतः सुमतः ॥ ३ ॥

श्रीसुपार्श्वनाथ जिनेन्द्रनाथ-स्तुतिः । (७)

(मालिनी-वृत्तम्)

कृतनति कृतवान् यो जन्तुजातं निरस्त-
स्मरपरमदमायामानवाधाऽयशस्तम् ।
सुचिरमविचलत्वं चित्तवृत्तेः सुपार्श्वं,
स्मर परमदमाया मानवाधाय शस्तम् ॥ १ ॥

व्रजतु जिनततिः सा गोचरं चित्तवृत्तेः,
सदमरसहिताया वोऽधिका मानवानाम् ।
पदमुपरि दधाना वारिजानां व्यहार्षीत्,
सदमरसहिता या बोधिकामा नवानाम् ॥ २ ॥

दिशदुपशमसौख्यं संयतानां सदैवो-
रु जिनमतमुदारं काममायामहारि ।
जननमरणरोगान् वासयत् सिद्धवासे-
ऽरुजि नमत मुदाऽरं काममायामहारि ॥ ३ ॥

दधति रविसपत्नं रत्नमाभास्तभास्व—
न्नवघनतरवारिं वा रणारावरीणाम् ।
गतवति विकिरत्यालीं महामानसीष्टा—
न्नव घनतरवारिं वारणारावरीणाम् ॥ ४ ॥

श्री सुविधिनाथजिनेन्द्र-स्तुतिः । (९)

(उपजाति-वृत्तम्)

तवाभिवृद्धिं सुविधिर्विधेयात्, स भासुरालीनतपादयावन् ! ।
यो योगिपंक्त्या प्रणतो नभःसत्-सभासुरालीनतपादयाऽवन् ॥१॥
या जन्तुजाताय हितानि राजी, मारा जिनानामलपद् ममालम् ।
दिश्यान्मुदं पादयुगं दधाना, सा राजिनानामल पद्ममालम् ॥२॥
जिनेन्द्र भंगैः प्रसभं गभीरा-शु भारती शस्यतमस्तवेन ।
निर्नाशयन्ती मम शर्म दिश्यात्, शुभाऽरतीशस्य तमस्तवेन ॥३॥
दिश्यात्तवाशु ज्वलनायुधाऽल्प-मध्या सिता कं प्रवरालकस्य ॥
अस्तेन्दुरास्यस्य रुचोरुपृष्ठ--मध्यासिताऽकम्प्रवरालकस्य ॥४॥

श्रीशीतलनाथजिनेन्द्र-स्तुतिः । [१०]

[द्रुतविलम्बित—वृत्तम्]

जयति शीतलतीर्थकृतः सदा,
चलनतामरसं सदलं घनम् ।
नवकमम्बुरुहां पथि संस्पृशत्,
चलनताऽमरसंसद लंघनम् ॥ १ ॥
स्मर जिनान् परिणुन्नजरारजो-
जननतानवतोदयमानतः ।
परमनिर्वृतिशर्मकृतो यतो,
जन नतानवतोऽदयमानतः ॥ २ ॥

जयति कल्पितकल्पतरूपम,
मतमसारतरागमदारिणा ।
प्रथितमत्र जिनेन मनीषिणा—
मतमसा रतरागमदाऽरिणा ॥ ३ ॥
घनरुचिर्जयताद् भुवि [1]मानवी,
गुरुतराऽविहतामरसगता ।
कृतकरास्त्रवरे फलपत्रभा—
गुरुतराविह तामरस गता ॥ ४ ॥



श्रीश्रेयांसनाथजिनेन्द्र—स्तुति. । (११)

(हरिणी - वृत्तम्)

कुसुमधनुषा यस्मादन्य न मोहवश व्यधुः,
कमलसदृशा गीवाराश बलादयि तापितम् ।
प्रणमततमा द्राक् श्रेयास न चाहृत यन्मन',
कमलसदृशाङ्गी तारा वाबला दयितापि तम् ॥१॥
जिनवरततिर्नीत्वालीनामकारणवत्सला—
ऽसमदमहिताऽमारादिष्टाममानवराऽजया ।
नमदमृतभुक्पक्त्या नूता तनोतु मति ममा—
ऽसमदमहितामारादिष्टा समानवराजया ॥ २ ॥

---

१ 'मानवी' इति पुस्तकान्तरे पाठ ।

नयनरवरदेभ्यः सारवादस्तुतेभ्यः ।
समधिगतनुतिभ्यो देववृन्दाद्गरीयो-
नयनरवरदेभ्यः सारवादस्तु तेभ्यः ॥ २ ॥
स्मरत जगतमुद्रं जैनचन्द्रं चकासत्-
कविपदगमभङ्गं हेतुदन्तं कृतान्तम् ।
द्विरदमिव समुद्यद्दानमार्गं धुतार्वै-
कविपदगमभङ्गं हे तुदन्तं कृतान्तम् ॥ ३ ॥
प्रचलदचिरोचितश्चारुगात्रे समुद्यत्-
मदमिफलकरामेऽभीमहासेऽरिभीते ।
सपदि पुरुपदत्ते ते भवन्तु प्रसादाः,
सदसि फलकरा मेऽभीमहासेऽरिभीते ॥ ४ ॥

श्रीअरनाथजिनेन्द्र-स्तुतिः । [१८]

तमुरुचक्रवर्तिलक्ष्मीमिह तृणमिव यः क्षणेन तं,
सन्नमदमरमानसमारमनेकपराजितामरम् ।
द्रुतकलधौतकान्तमानमतानन्दतभूरिभक्तिभाक्-
सनमदमरमानम सारमनेकपराजिताऽमरम् ॥ १ ॥
स्तौति समन्ततः स्म समवसरणभूमौ य सुरावलिः,
सकलकलाकलापकलिताऽपमदाऽसुखकरमपापदम् ।
तं जिनराजविसरमुज्ज्वासितजन्मजरं नमाम्यहं,
सकलकला कलाऽपकलितापमदारुणकरमपापदम् ॥ २ ॥

श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्र-स्तुतिः । [२३]

(स्रग्धरा-वृत्तम्)

मालामालानबाहुर्दधदधदर यामुदारा मुदारा-
  ल्लीनाऽलीनामिहाली मधुरमधुरसां सूचितोमाचितो मा ।
पातात्पातात्स पार्श्वो रुचिररुचिरदो देवराजीवराजी-
  पत्रापत्रा यदीया तनुरतनुरवो नन्दको नोदको नो ॥१॥
राजी राजीववक्त्रा तरलतरलसत्केतुरङ्गत्तरङ्ग-
  व्यालव्यालग्नयोधाचितरचितरणे भीतिहृद्याऽतिहृद्या ।
सारा साराज्जिनानामलममलमतेर्बोधिका माधिकामा-
  दव्यादव्याधिकालाननजननजरात्रासमानाऽसमाना ॥ २ ॥
सद्योऽसद्योगभिद्वागमलगमलया जैनराजीनराजी-
  नूता नूतार्थधात्रीह ततहततम:पातकाऽपातकामा ।
शास्त्री शास्त्री नराणां हृदयहृदयशोरोधिकाऽबाधिका वा-
  ऽऽदेया देयान्मुदं ते मनुजमनु जरां त्याजयन्ती जयन्ती ॥३॥
याता या तारतेजाः सदसि सदसिभृत् कालकान्तालकान्ता-
  ऽपारिं पारिन्द्रराजं-सुरवसुरवधूपूजिताऽरं जितारम् ।
सा त्रासात्त्रायतां त्वामविषमविषभृद्भूषणाऽभीषणा भा-
  हीनाऽहीनाग्रचपत्नी कुवलयवलयश्यामदेहाऽमदेहा ॥ ४ ॥

